क्या धर्म अफीम की गोली है ?

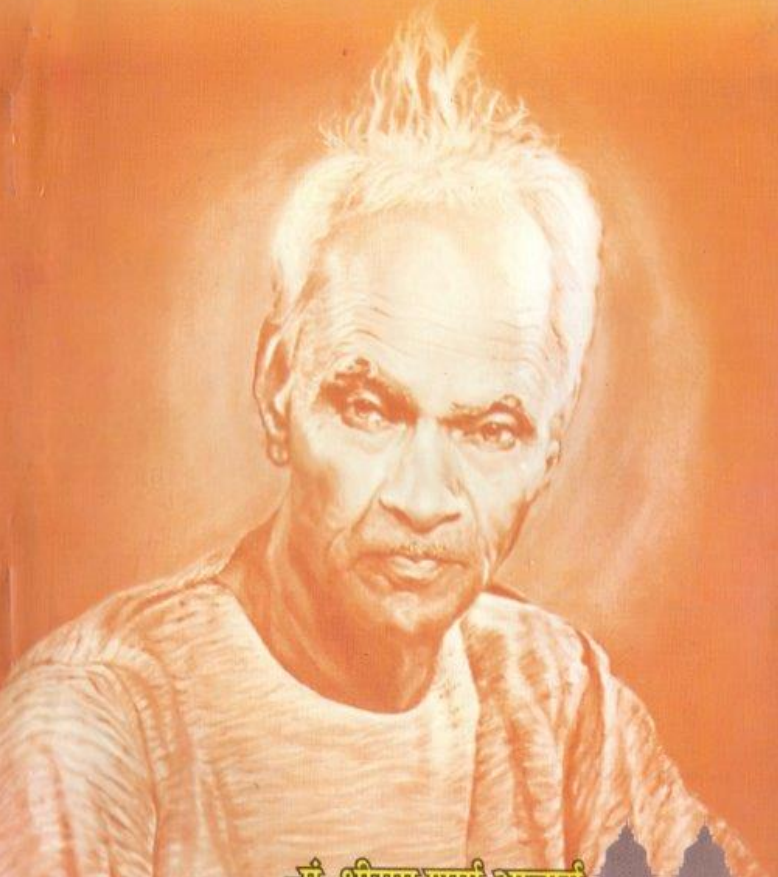

क्या धर्म अफीम की गोली है ?

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स (०५६५) २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : २०.०० रुपये

विषय-सूची

१. धर्म अफीम की गोली नहीं	३
२. धर्म की सत्ता और उसकी महान महत्ता	१४
३. विज्ञान उपयोगी है, परिपूर्ण नहीं	२४
४. विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय निश्चित	४२
५. सांस्कृतिक एकता का आधार धर्म	५७
६. विज्ञान भावनाशील बने और धर्म तथ्यानुयायी	७३
७. धर्म का उद्देश्य व्यक्तित्व का परिष्कार	८६

धर्म को संवेदना का उद्गम-स्रोत कह सकते हैं। वह उपदेश नहीं उपचार है, जिसके सहारे दिव्य चक्षुओं पर चढ़ी हुई धुंध को दूर किया जा सकता है। उस धुंध के हटने पर पदार्थ के अंतराल में संव्याप्त सत्ता को देखा जाता है। उसी के सहारे उस ब्रह्मांडव्यापी चेतना की अनुभूति होती है, जिसे विश्वात्मा कहा जाता है और जिसका एक घटक आत्मा है। विचार से पदार्थ के गुण-धर्म-स्वभाव और उपयोग को जाना जाता है, धर्म से आत्मा का साक्षात्कार होता है और जीवन को आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए प्रशिक्षित और अभ्यस्त किया जाता है।

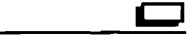

धर्म अफीम की गोली नहीं

३ दिसंबर, १९०५ को सोवियत रूस से प्रकाशित प्रत्र 'नेवायाजिन' में एक समाचार छपा था, जिसके अनुसार तत्कालीन सोवियत संघ के साम्यवादी सिद्धांत के जनक और नेता श्री एन० लेनिन ने समाजवादी सिद्धांतों के क्रियान्वयन में सर्वोपरि बाधा धर्म को बताया और धर्म की निंदा उसे 'अफीम की गोली' कहकर की। आज साम्यवादी सिद्धांतों में उक्त कथन को सर्वोपरि महत्त्व देकर स्वीकार किया जाता है और इन्हीं शब्दों की प्रेरणा से कम्युनिस्ट देश कम्युनिज्म के सिद्धांत पर आस्था रखने वाले धर्मतत्त्व की अवहेलना-उपेक्षा ही नहीं उसकी निंदा भी करते रहते हैं।

उक्त विचारधारा का प्रतिपादन पीछे लेनिन के 'धर्म संबंधी विचार' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर किया गया और अब उन्हीं विचारों को आधारभूत तथ्य मानकर धार्मिक आस्थाओं और परंपराओं का खंडन किया जाता है।

कदाचित कोई उन मूलभूत विचारों पर दृष्टि डाले तो उसे यह समझते देर न लगेगी कि लेनिन की इस मान्यता के पीछे ऐतिहासिक कारण रहे हैं। वे उस समय की परिस्थिति में सही रहे हैं, पर धर्म के यथार्थ स्वरूप की तुलना में न तो उन विचारों में कुछ सत्य है और न वजन। उन दिनों अन्य यूरोपीय देशों की तरह रूस में भी चर्च और उनके पादरी सर्वप्रभुता संपन्न हुआ करते थे। असीमित अधिकार और संपत्ति प्राप्त व्यक्ति में अहंकार जन्य जो भी बुराइयाँ हो सकती थीं, वे उन पादरियों में भी थीं । यही कारण था कि उनके प्रति श्रद्धा पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी, अपना आधिपत्य बनाए रखने के लिए पादरियों ने सिद्धांतों की कट्टरता का बोझ लादा। उस स्थिति में

किसी भी विचारशील में वही प्रतिक्रिया हो सकती थी, जो लेनिन में हुई। वास्तव में लेनिन की आवाज आम जनता की प्रतिक्रिया थी। इसी कारण यहाँ धर्म के प्रति अनास्थाओं ने एकाएक जोर पकड़ा, विप्लव हुआ और रूस एक झटके में साम्यवादी देश हो गया।

उन समूचे विचारों को बार-बार पढ़ने पर एक भी ऐसा तर्क नहीं मिलता, जिनसे सैद्धांतिक रूप में धर्म के सनातन सिद्धांत कटते हों। आर्थिक-सामाजिक जीवन को जिस भाग्यवाद से दबाने की बात कही गई है, वह पादरियों की तात्कालिक मस्तिष्कीय उपज हो सकती है। वस्तुतः हिंदू धर्म ही नहीं किन्हीं अन्य धर्मों में भी वैसा नहीं है। हमारे यहाँ पग-पग पर पुरुषार्थ सहित, सामाजिक भलाई की बात कही गई है। संपत्ति वालों से संपत्ति का एक बड़ा भाग लेने की परंपरा आज आयकर के रूप में सारे विश्व में विद्यमान है, पर यह वस्तुतः भारतीय शासन व समाज की देन है। इसका भी संबंध धर्म से ही रहा है। जो आर्थिक और भौतिक जीवन के व्यवहार में इतनी कठोर साम्यवादी विचारधारा का पोषक रहा हो, उस धर्म को ही प्रगति में बाधक मान लेना न केवल भूल, अपितु मूर्खता भी है, जबकि धर्म एक विज्ञान सम्मत प्रक्रिया का नाम है।

यों पाखंड आज भी धर्म में कम नहीं। अंधविश्वास और निहित स्वार्थों का अंहकार अब भी जुड़ा हुआ है। धर्म के उस स्वरूप की जो व्यक्ति को पलायनवादी, भाग्यवादी, विषमतावादी बनाता है, उसकी न केवल निंदा, अपितु उसे बहिष्कृत भी किया जाना चाहिए। पर उसका दार्शनिक पक्ष जो प्रत्येक युग, प्रत्येक काल, प्रत्येक परिस्थिति तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपरिवर्तनीय है, का तिरष्कार मानव जीवन के लिए कितना अहितकर हो सकता है, उसे आज के सामाजिक जीवन और वैयक्तिक आचरण की मर्यादाहीनता के रूप में कहीं भी स्पष्ट देखा जा सकता है। धर्म तो पलायनवादी भगोड़ों का काम है। निंदा केवल उतने ही अंश की हो सकती है।

भगोड़ों में से बहुत से तथाकथित अध्यात्म के कोतर में छिपने की कोशिश करते हैं। एकांत में भजन करने और शांति पाने की बात सोचना सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं है। यह वैज्ञानिक अन्वेषण एवं अभ्यास का प्रकरण है। अंतर्मुखी होकर सूक्ष्म, अति सूक्ष्मसत्ता के गहरे समुद्र में डुबकी लगाने और वहाँ से बहुमूल्य रत्न राशि ढूँढ़ लाने के लिए कुशल पनडुब्बी का-सा दुस्साहस करना एक महत्त्वपूर्ण काम है तो, पर वह बन तब पड़ता है, जब पहले मन को भली प्रकार निग्रहीत कर लिया जाए और एकांत में भी रंगमंच जैसा आनंद आने लगे। यह समयसाध्य और अभ्याससाध्य है। यह प्रारंभ नहीं परिपक्वास्था है। जो लोग आरंभ में ही एकांत ढूँढ़ते हैं और पहले दिन ही समाधि लगाने की बात सोचते हैं, वे भारी भूल करते हैं। व्यायामशाला में प्रवेश करते ही दंगल जीतने वाला पहलवान कौन बनता है और पट्टी-पूजन के दूसरे दिन ही किसके हाथ में स्नातक होने का प्रमाण पत्र मिल जाता है? बालबुद्धि से एकाकी आत्म-साधना के लिए कुछ लोग भागते हैं। इसके लिए उनकी पूर्व तैयारी तो होती नहीं, जो उत्साह होता है वह भी श्रद्धाजन्य नहीं, जीवन संग्राम की भयंकरता से डरकर कहीं छिपने की पलायनवादी मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ होता है। उसमें न श्रद्धा होती हैं और न गहराई। फलतः मन वहाँ भी नहीं लगता। वापस लौटने में उपहास होने की झिझक से एक असमंजस और खड़ा हो जाता है।

कुछ लोग भजन करने के लिए घर छोड़कर तो नहीं भागते, पर एक विचित्र प्रकार की उदासी धारण कर लेते हैं। यह वैराग्य तो है नहीं,पर कहा या समझा इसी तरह जाता है। अपने कर्तव्यों एवं आश्रितों से उदासीन हो जाना, इस उदासी से उत्पन्न शिथिलता भी भारी पड़ती है। जीवन में इस प्रकार जो रिक्तता उत्पन्न होती है उसे भरने के लिए कई व्यक्ति पूजा-पाठ, सत्संग, साधु-संगम जैसा कोई नया आश्रय ढूँढ़ते हैं। यदि उस समय में गंभीरतापूर्वक कदम उठाए गए होते तो जो कर्मयोग की सनातन प्रक्रिया पहले से ही मौजूद थी,

उसे अपनाकर अर्जुन, हनुमान आदि की तरह उभयक्षीय कर्तव्य—धर्म भली प्रकार सध सकते थे। लोक और परलोक का समन्वय पूर्ण व्यावहारिक है, साथ ही सरल और सरस भी।

वैयक्तिक जीवन में आत्मपरिष्कार, पारिवारिक जीवन में सहयोगियों का पोषण-संवर्द्धन, सामाजिक जीवन में सत्प्रवृतियों का समर्थन जैसे उत्तरदायित्व हर किसी के सामने मौजूद हैं। उनका निर्वाह भली प्रकार किया जाना चाहिए। इन तीनों ही मोरचों पर कर्म-कौशल का, शौर्य-साहस का, विवेक-संतुलन का परिचय दिया जाना चाहिए। इनसे मन हटा लेना और कल्पना लोक में विचरण करके मन को समझना ऐसा प्रयत्न है, जिससे किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती । भाग खड़े होने से समस्याएँ और भी अधिक विकराल होती हैं और पहले जितना उपद्रव चल रहा था, उसमें और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। मन जिस समाधान को खोजने चला था, वह भी भटकाव भरी पगडंडियों में कहाँ मिलता है? उपेक्षा-उदासीनता की रीति-नीति अपनाकर चैन मिलने में सहायक होने की कल्पना जिनने भी की है उन्हें प्रयोग के उपरांत निराशा ही हाथ लगी है।

प्रायः कायरता से उत्पन्न पलायनवाद की चपेट में बहुत से लोग धर्म का आवरण ओढ़ते और व्यावहारिक जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं से मुँह मोड़ते हैं। ऐसे ही धर्मात्मा सर्वत्र उपहासास्पद बनते हैं। हर क्षेत्र में श्रम करने पर उपलब्धियाँ मिलती हैं। धर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने पर व्यक्तित्व में तद् विषयक प्रखरता उत्पन्न न हो, तो सहज ही उसकी निरर्थकता का अनुमान लगाया जाएगा। दर्शकों और पर्यवेक्षकों में सहज ही उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी। धर्मात्माओं की अपरिपक्वता का दोष धर्म और धार्मिकता पर मढ़ा जाएगा। देखा यही जाता है कि धर्मचर्चा करने वाले लोग अपने स्वजन-संबंधियों से उदास होते जाते हैं। जिम्मेदारियों से हाथ खींचकर उन्हें और भी अधिक विकृत करते हैं; साथ ही स्वयं भी निराश, निष्क्रिय बनकर अपने आप के लिए भार-भूत बनते हैं। जहाँ रहते हैं, वहाँ भी

नीरसता का वातावरण उत्पन्न करते हैं। जिस समुदाय के बीच रहा जाए—जिन लोगों के साथ घनिष्ठतापूर्वक निर्वाह किया जाए,उन्हें पारस्परिक स्नेह, सहयोग, विनोद, उत्साह का लाभ मिलना चाहिए। इसके बिना सहनिर्वाह के साथ जुड़े हुए कर्तव्य की अवहेलना ही होती है। जो माँ स्वयं उदास रहती है और अपने बच्चों पर, पति पर, परिवार पर उदासी थोपे रहती है, वह प्रकारांतर से उन पर अत्याचार ही करती हैं। भले ही निर्दोष जैसी, दीन-दुखी जैसी ही क्यों न दीखती हो। यहाँ महिला का तो उदाहरण भर दिया गया है। बात उपेक्षा बरतने वाले हर नर-नारी, बाल-वृद्ध पर लागू हो सकती है। सहजीवन में साथियों के प्रति रुचि घटा लेना, उनके प्रति अपने कर्तव्यों में शिथिलता कर देना हर दृष्टि से अनुचित है। भले ही इसके लिए धार्मिकता की आड़ क्यों न ली गई हो? धर्मधारणा का निर्वाह करने के लिए नीरस और दायित्व-विहीन जीवनक्रम अपनाना आवश्यक नहीं है। उसे सरसता और सक्रियता के साथ अपेक्षाकृत और भी अच्छी तरह निभाया जा सकता है।

ऐसी पलायनवादी धार्मिकता पर करारे व्यंग करते हुए दार्शनिक वीन्सेंट पॉल ने लिखा है—"कमजोर मन:स्थिति के लोग जीवन-संग्राम की स्वाभाविक कठिनाइयों को तिल का ताड़ बनाते हैं और भयभीत होकर मुँह छिपाने का कोई आसरा तकते हैं। कोई धर्म का पल्ला पकड़ते हैं, तो कोई शराब का आश्रय लेते हैं। पर इससे उन्हें मिलता कुछ नहीं। ऐसे सभी आसरे परिस्थिति में सुधार नहीं,बिगाड़ ही उत्पन्न करते हैं।" धर्म को अफीम की गोली कहकर अनास्थावादी लोगों ने उसे खूब बदनाम किया है और कहा है, इस जंजाल में फँसने वाले लोग काहिली और गैर जिम्मेदारी से लद जाते हैं। यह बदनामी किसी भी भले-बुरे इरादे से क्यों न की जाती हो किंतु उसमें तथ्य तो है ही कि धार्मिकता और उदासीनता प्राय: पर्यायवाचक बनती दिखाई पड़ती है तो उस परिणाम को देखते हुए इस प्रकार के निष्कर्ष निकालने वालों को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता।

वीन्सेंट पॉल ने इस संदर्भ में अपना निजी अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है—"धार्मिकता, औषधियाँ, मनोरंजन आदि सभी साधन यदि ठीक तरह प्रयुक्त किए जाएँ, तो इनके सहारे प्रगति होती है और प्रसन्नता मिलती है, किंतु इन पर इतना आश्रित न बना जाए कि कठोर कर्तव्यों की उपेक्षा ही होने लगे। औषधियों पर आश्रित रहने से नहीं, स्वास्थ्य-रक्षा के ठोस प्रयत्न से काम चल सकता है। मनोरंजन के अवसर ढूँढ़ने से नहीं, आंतरिक उल्लास से प्रसन्नता स्थिर रहती है। इसी प्रकार धर्म के कल्पना लोक में विचरण करने से नहीं, जीवन संग्राम में कर्म का गांडीव उठाने से समाधान मिलता है। कर्मनिष्ठा का स्थान यदि पलायनवादी धार्मिकता ग्रहण करने लगे तो उसमें अनर्थ की संभावना रहती है। वैसे दोनों ही अपने-अपने स्थान पर आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं।"

धर्म का वास्तविक तात्पर्य है—मानवीय चेतना में ऐसी सत्प्रवृत्तियों का समावेश जो सदाचरण और कर्तव्यपालन के रूप में वातावरण को उल्लासपूर्ण बनाने में समर्थ हो सके। सहिष्णुता, दया, प्रेम, विवेक, उदारता, संयम, सेवा जैसे गुणों में सच्ची धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता हैं। कर्तव्यपरायणता को प्रमुखता देने वाला व्यक्ति धर्मात्मा कहा जा सकता है, किंतु आज तो इन सबकी उपेक्षा करके मात्र पूजा-पठन में निरत रहना ही धर्मपरायणता का चिह्न बन गया है। धर्म के प्रति अनास्था इसी विकृति के कारण उत्पन्न हुई है। धर्म के कारण लोग पिछड़ेपन के शिकार नहीं हुए हैं, वरन् पिछड़े लोगों ने धर्म का आडंबर ओढ़कर उसकी उपयोगिता में संदेह उत्पन्न कर दिया है।

नींद की गोली खाने से, नशा पीने से, भाग्यवाद का आश्रय लेने, भाग खड़े होने, उदासीनता धारण कर लेने से उलझनें सुलझती नहीं और न पलायनवादी धार्मिकता से किसी को समाधान मिलता है। तथ्यों को समझा जाना चाहिए और समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना चाहिए। वह एक तरह से न सही तो दूसरी तरह से हल हो सकती है। जिस तरह हम हल चाहते हैं, वही एकमात्र उपाय हो ऐसी

बात नहीं है। खोजने पर ऐसे अनेक आधार निकल सकते हैं, जिससे प्रस्तुत कठिनाइयों से निपटना या बचना संभव हो सके। पानी की धार कोई बड़ी चट्टान सामने आने पर किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाती है। सीधी टक्कर कठिन पड़ती है तो बगल से रास्ता ढूँढ़ा जाता है। निराशा, कायरता और भीरुता से ग्रसित मन:स्थिति में अपनाया गया धर्माश्रय किसी के कुछ काम नहीं आ सकता । धर्म तो कठोर कर्म का पर्यायवाचक है। धर्मनिष्ठा और कर्मनिष्ठा समान अर्थबोधक हैं। दूरदर्शी, समाधान करने की क्षमता का विकास ही धार्मिकता है। इसी विशेषता के कारण धर्मतत्त्व को मानव जीवन में सम्मान और उच्च स्थान मिला है, इस मौलिकता से विरत होकर वह अनुपयोगी बनता और बदनाम होता चला जाएगा।

धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था होने का तात्पर्य है— जीवन की गरिमा और उसकी श्रेष्ठता पर सुदृढ़ श्रद्धा। इसकी प्रेरणा से मनुष्य व्यक्तिगत जीवन में ईमानदार, जिम्मेदार और उदार बनता है। ईश्वर विश्वास से जानता है कि उसे पैर इसलिए दिए गए हैं, कि उसके सहारे न केवल खड़ा हो वरन् आगे चलने का भी प्रयास करे। यदि ईश्वर को लकड़ी का घोड़ा बनाया जाएगा और उस पर चढ़कर सफर करने का इरादा किया जाएगा तो यह आस्तिकता और धार्मिकता के मूल सिद्धांतों का अतिक्रमण ही होगा।

यदि तथाकथित अध्यात्मवादियों ने धर्म की यह दुर्गति न की होती तो अनास्थावादियों को या साम्यवादियों को यह कहने का साहस नहीं होता कि धर्म अफीम की गोली है। जिसमें प्रत्यक्ष चेतना की, अप्रत्यक्ष जगत की खुमारी सवार रहती है, धर्म के वह सभी सिद्धांत जो मनुष्य को प्रत्यक्ष से परे अप्रत्यक्ष और अदृश्य का बोध कराते हैं दर्पण में दीखने वाले प्रतिबिंब की तरह सत्य और स्पष्ट हैं। वस्तुत: धर्म ही यथार्थ विज्ञान है, धर्म की नाव पर बैठकर ही आत्मकल्याण, आत्मशांति और आत्मिक प्रगति का समुद्र पार किया जा सकता है, उससे कम में नहीं।

धर्म एक परिष्कृत दृष्टिकोण

प्राचीन भारत के मनीषियों ने धर्म का अर्थ व्यापक माना है। ऋषि-मुनियों ने वर्ग-संप्रदाय आदि के भेदभाव के बिना प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण किया। जप-तप की अनुभूतियों से विश्वमानव को लाभान्वित करने के सूत्र और मंत्रों की रचना की। वेद-वेदांग इसका ज्वलंत प्रमाण है।

वेद को धार्मिक ग्रंथ माना जाता है। उसमें समग्र जीवन जीने की कला का वर्णन मिलता है। व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक समस्याओं का समाधान है। आध्यात्मिक ही नहीं, अपितु आर्थिक, राजनीतिक विषय भी हैं। शासन प्रणाली के प्रसंग में **'साम्राज्य भोज्यं स्वराज्यं वराज्यं पारमेष्ठयं राज्यम्'** आदि ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख किया गया है।

हमारा कोई धर्मग्रंथ एकांगी नहीं। धर्मशास्त्रों में भी सर्वांगीण विधि बताई गई है। धर्म की परिभाषा है **'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।''** ऐहलौकिक अभ्युदय भला भौतिक,आर्थिक,सामाजिक, राजनीतिक ज्ञान शून्यता से कैसे संभव है? धर्म परमार्थ के साथ पुरुषार्थ सिखाता है। आत्मिक उन्नति के मार्ग पर चलने के लिए कहकर जीवन को पूर्णता प्रदान करता है।

आज लोग हिंदू, मुसलिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि को धर्म मानने लगे हैं। अतः इनसे भेदभाव रहित होना 'धर्म-निरपेक्षता' कहलाता है। यह भ्रामक और गलत दृष्टिकोण है। मुसलिम, यहूदी, मसीही आदि संप्रदाय हैं, धर्म नहीं। धर्म तो एकांगी पथ-संप्रदायों से भी ऊपर है, संप्रदाय जलबिंदु के समान हैं, धर्म समुद्र है। संप्रदायातीत जीवन ही मानवता का स्वरूप है।

परंतु वर्तमान विश्व में जितनी विचारधाराएँ जोरों पर फैल रही हैं, उनमें कृत्रिमता और अधूरा दर्शन है। कुछ एकांगी विचार

प्रतिक्रियात्मक और कुछ नकली हैं। पूँजीवाद एकांगी विचार है। पूँजीवाद की प्रतिक्रियास्वरूप साम्यवाद है। भारत में प्रचलित अन्य कई धारणाएँ तो अँगरेजों की सीधी नकल हैं। इस तरह के विचार उस काल में चलते हैं, फिर थोड़े समय के बाद खतम हो जाते हैं।

इस युग की यही विडंबना है कि उद्योग और विज्ञान के विकास से हमारा दृष्टिकोण भौतिकवादी और स्वार्थपरायण बन गया है। अनास्था और अविश्वास के कारण धार्मिक दर्शन के प्रति द्वंद्व उत्पन्न हुआ। विद्या-विहीन शिक्षित और साधनसंपन्न लोग यह समझते हैं कि नए समाज के निर्माण की शक्ति धर्म में रही नहीं। धर्मतत्त्व के प्रति अश्रद्धा और उपेक्षा इसी अज्ञान की उपज है।

यद्यपि विभिन्न मत-पंथ, संप्रदाय और वादों का प्रारंभ व्यक्तिगत तथा समष्टिगत भूलों को सुधारने की दृष्टि से होता है। व्यक्ति का कल्याण एवं सुंदर समाज का निर्माण ही सभी मत वादों का मुख्य उद्देश्य है, किंतु उनकी ममता व्यक्ति को पागल बना देती है। यही भ्रांति और मोह कहलाता है। हम भूल जाते हैं कि ओषधि का सेवन आरोग्य के लिए है, ममता, किंवा, आसक्ति हेतु नहीं। सभी धर्म विचारों से स्वयं एवं समाज को सुंदर तथा आनंददायक बनाने की अपेक्षा की जाती है।

जिस दृष्टिकोण की गला फाड़-फाड़कर प्रशंसा की जाती है। यदि वह विश्व-कल्याण हेतु जीवात्मा को सन्मार्ग पर चलाने में उपयोगी न बन सका तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक है। प्रेम, सत्य और यथार्थ ही धर्म है। एकता और समता का मूल यही धार्मिक दृष्टिकोण है। धर्म का नया दृष्टिकोण इसी सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन करता है।

अनुपयोगी मतवाद और सांप्रदायिक भेदभाव तथा पाखंड को भुलाकर धर्म के इस नए दृष्टिकोण को जीवन व्यवहार में क्रियान्वित करना ही पड़ेगा। अन्यथा अधर्म, अनास्था, अभाव, दुर्भाघ के कारण विविध समस्याजनित संकट समूची मानव सभ्यता के विनाश का चित्र प्रस्तुत कर देगा।

हम जानते हैं कि मानवमात्र के अत:करण में धर्म का देवी भाव भी विद्यमान है। प्रयोजन है, परम सत्य की अनुभूति का अमृत पिलाकर आत्मपरिचय कराने का—अखण्ड ज्योति जलाकर सद्ज्ञान के अनुदान से सद्भाव जागरण का।

जीवात्मा का ध्येय है—अनंत आनंद की प्राप्ति। **'मृत्योर्मा अमृतम् गमय'** मैं इसी अमरता की माँग है। नदियाँ अपने आप में संतुष्ट न होने से समुद्र की ओर दौड़ी चली जाती हैं। हवा को एक स्थान पर चैन नहीं। यह प्रतिक्रिया संसार के प्रत्येक परमाणु में चल रही है। किसी को भी अपने आप में संतोष नहीं मिलता । जड़ व चेतन सभी पूर्णता के लिऐ गतिवान हैं। अपने स्वत्व को किसी महान सत्ता में घुला देने के लिए सबके सब सतत क्रियाशील दिखाई देते हैं।

ऐसी ही प्रक्रिया जीवात्मा की है। व्यष्टि में उसे अनंत आनंद की प्राप्ति नहीं। समष्टि की परमात्मा के पावन स्पर्श हेतु सेवा-भक्ति अनिवार्य है। आत्मचिंतन की प्रवृति से जीवन-मरण के रहस्य का अनावरण होता है। उसे यह आभास मिलता है कि मानव को यहाँ वे सारी परिस्थितियाँ प्राप्त हैं, जिनके सहारे सक्रिय होने पर वह अपनी विकास-यात्रा आसानी से पूरी कर सकता है।

परमात्मा से प्रेम एवं आत्मीयता स्थापित करने का अच्छा तरीका यह है कि हम उसका अभ्यास परिजनों से प्रारंभ करें। संसार में सबके साथ सत्य का व्यवहार करें, न्याय रखें और सहिष्णुता बरतें। स्वार्थ की अहंवृति का परित्याग कर परमार्थ के विशाल क्षेत्र में पदार्पण करें। इससे मनुष्य विराट की ओर अग्रसर होता है। यही नया दृष्टिकोण युग की अनिवार्य आवश्यकता है।

ऐसे धार्मिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हजारों-लाखों योनियों के बाद सौभाग्य से उपलब्ध मानव जीवन को तुच्छ स्वार्थमय गोरख-धंधों में ही दुरुपयोग करने की मूर्खता नहीं करेगा। यह प्रत्यक्ष है कि पशु-पक्षी की तुलना में ज्ञान या धर्म भावना के कारण ही वह श्रेष्ठ है।

धर्म का मूलोद्देश्य है जीवन को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ते हुए उस परम लक्ष्य को प्राप्त करना। आस्तिकता का अवलंबन लेकर क्रमशः उस दिशा में बढ़ा जा सकता है। धार्मिकता का तत्त्वज्ञान हमें कर्तव्यपरायण बने रहने और जीवन के संग्राम के हर मोरचे पर लड़ाई लड़ने का शौर्य एवं साहस प्रदान करता है। धर्म में सज्जनता, शालीनता, कर्तव्यपरायणता एवं प्रखरता के वे सारे तत्त्व मौजूद हैं जिनका आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन में सुख-शांति का जीवन यापन करते हुए अपने जीवन-लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकता है। धार्मिक दर्शन का मूलोद्देश्य भी यही है।

धर्म की सत्ता और उसकी महान महत्ता

'धृ' धातु में 'मन्' कृदंत लगाकर 'धर्म' शब्द बना है। इसका अर्थ होता है—धारण किए जाने वाला, आचरण करने योग्य। **'धार्यते जनैरिति धर्म'** मनुष्यों द्वारा जिसे धारण किया जाता है, अर्थात मनुष्यमात्र जिसे अपने आचरण में लाए वह ही 'धर्म' कहलाता है। धर्म को धारण करने वाला, धर्म का अपने जीवन में आचरण करने वाला, धर्म के आधार पर अपने जीवन को जीने वाला व्यक्ति धार्मिक कहलाता है। इस दृष्टि से 'धर्म' वह होगा जिसका आचरण करने से, जिसको धारण करने से मनुष्य जीवन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे, जिसके अनुसार चलने से मनुष्य अपने निर्दिष्ट लक्ष्यानुसार जीवन-निर्वाह करता हुआ अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बनाए।

भगवान ने जब मुनष्य को बनाया तो उसकी मनुष्यमात्र से यह अपेक्षा थी कि वह अपना स्वयं का ऐसा मर्यादापूर्ण आदर्श जीवन बनाए। जिससे स्वयं उसका जीवन तो सफल हो ही, साथ ही जिस परिवार, जिस समाज व युग में वह है, उस परिवार, समाज व युग को भी अपने कृत्यों, अपने आचरणों से सुव्यवस्थित बनाए रख सके। इस दृष्टि से धर्म का लक्ष्य मनुष्य में शिवत्व का विकास करना है। स्वामी विवेकानंद ने 'राजयोग की टीका' नामक पुस्तक में बताया है कि धर्म का लक्ष्य मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व की उपलब्धि ही है। धरती का हर मनुष्य इस तरह का आचरण करे कि उसका जीवन सुव्यवस्थित, सुनियोजित बना रहे, वह अपने कर्तव्य-पथ पर चलता रहे। धर्म के विपरीत आचरण व्यवहार न करे तो वह देवत्व तक पहुँच सकता है।

मनुष्य का विकास एवं अभ्युदय तो धर्म का व्यष्टिपरक तत्त्व है। धर्म का समष्टिपरक स्वरूप भी निर्धारित है। यदि हर मनुष्य धर्म द्वारा निर्धारित रीति से आचरण करे। अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा जैसे सद्‌गुणों को अपने जीवन में अंगीकृत कर ले तो मनुष्य का यह व्यष्टिपरक गुण ही समष्टिपरक हो जाता है। जब सब मनुष्य धर्मानुकूल आचरण करने लगेंगे तो फिर कहीं कोई धर्म विपरीत आचरण न होने से 'यही धर्म' समष्टिपरक बन जाएगा। इसीलिए तो हमारे ऋषि-मुनियों की यह मान्यता रही है कि यदि व्यक्ति सुधर जाए तो समाज भी बदल जाए। व्यक्ति से ही समाज बनता है-व्यष्टि से ही समष्टि बनती है। अतः यदि हर व्यक्ति अपने आपको धर्मनिष्ठ बना ले तो पूरा समाज व युग भी धर्मनिष्ठ बन जाएगा। यही धर्म का लक्ष्य भी है—व्यष्टि रूप में मनुष्य देवतुल्य बने व समष्टि रूप में यह धरती ही स्वर्ग बने।

इस दृष्टि से शायद स्वयं 'धर्म' को भी लोक या प्रजा की रक्षा करने वाला माना गया है। "**धियते लोकोप्रजाः वा अनेन अथवा धरति लोकं प्रजाः वा इति धर्म**" जो लोक अथवा प्रजा को धारण करता है अर्थात लोक या प्रजा की स्थिति की रक्षा करने वाला तत्त्व है, वह धर्म है। धर्म के इस तरह दो रूप हैं। प्रथम यह कि धर्म मनुष्य को—आचरण करने—व्यवहार में लाने का तत्त्व है। यह धर्म का 'मानवाचार' का रूप है। धर्म का दूसरा रूप है— 'सामाजिक'। अपने दूसरे रूप में धर्म सामाजिक स्थिति का आधार बनाता है। व्यष्टि रूप में यदि धर्म को मानवमात्र ने अंगीकृत किया व अपना व्यक्तिगत जीवन धर्मानुरूप बनाया तो समष्टि रूप में यही धर्माचरण ऐसी सामाजिक स्थिति का निर्माण करता है कि जिससे मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप व्यवस्थित बना रहता है व पूरा समाज ही ऐसा बन जाता है, जहाँ 'एक के लिए सब व सबके लिए एक' का भाव व्याप्त रहता है। धर्म के इसी स्वरूप को राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र में 'समता', 'समानता', 'समाजवाद' के नाम से सुना जाता है। किसी समय विशेष व समाज विशेष में धर्म की मान्यताएँ-

मर्यादाएँ एवं नैतिक मूल्य निर्धारित हो जाने पर यदि उस समाज के सभी घटक 'धर्म' का पालन करने लगेंगे तो फिर 'धर्म' पूरे समाज की रक्षा भी करेगा ही; क्योंकि समाज के किसी एक अंग पर विपत्ति आ पड़ने पर दूसरे घटक इसकी विपत्ति को दूर करना अपना 'धर्म' ही मानते हैं। इसी तरह समाज के कमजोर वर्ग को समुन्नत करने, विकसित करने के लिए विकसित वर्ग के प्रयास 'धर्म', 'कर्तव्य' मानकर ही किए जाते हैं। समाज या राष्ट्र पर या इसके किसी वर्ग पर कोई प्राकृतिक प्रकोप आ जाने पर दूसरे वर्ग के लोग अपनी धार्मिक भावना के वशीभूत होकर ही तो कर्तव्य प्रेरित होते हैं कि अपने समाज के अन्य भाइयों के कष्ट-निवारणार्थ कुछ त्याग करें। इसी दृष्टि से धर्म का यह स्वरूप सर्वमान्य है कि धर्म प्रजा की व समाज की रक्षा करता है।

धर्म के इन दो तत्त्वों मानवाचरण एवं समाज-रक्षण को दृष्टि में रखते हुए ही धर्म की धारणा निश्चित रहती है। धारणा से अर्थ वह व्यवहार, जीवनपद्धति, मर्यादा, आचार संहिता है, जो 'धर्म' स्वरूप मानी जाए तथा तदनुरूप ही इसका आचरण मनुष्यमात्र करे। इस दृष्टि से धर्म के प्रति समाज की जो 'धारणा' हो, वह ऐसी हो जो व्यक्तित्व परिष्कार, व्यक्ति कल्याण के साथ ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी अनुकूल हो। यहाँ 'धर्म' का अर्थ अपने जीवन-निर्वाह के उद्देश्य से किया जाने वाला किसी प्रकार का श्रम 'धर्म' नहीं माना जा सकता । दस्यु जीवन बिताने वाले वाल्मीकि अपने परिवार के सदस्यों का पालन करने के लिए लूटपाट करने को ही 'धर्म' समझते थे। एक बार उन्होंने धन के लालच में सप्तऋषियों को पकड़ लिया। सप्तऋषियों ने पूछा—"भाई, असहाय लोगों को इस तरह मारना, लूटना तो पाप है, तुम यह सब क्यों करते हो?" इस पर वाल्मीकि ने उत्तर दिया, "यह तो मेरी जीविका है। अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी व संतान का पालन-पोषण करता हूँ, मैं इनके प्रति अपने कर्तव्य निर्वाह हेतु ही इस कार्य को करता हूँ, यह तो मेरा धर्म है, जो मुझे करना पड़ता है। भला अपने पर आश्रित लोगों का पालन-

पोषण करना क्या पाप है?'' इस पर सप्तऋषियों ने समझाया— ''अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों के हितों का हनन करना, अपना पेट भरने के लिए दूसरों को भूखों मारना, तड़पाना, अपनी पारिवारिक सुख- समृद्धि के लिए दूसरे परिवारों को कष्ट व असुविधा में डालना, बिना श्रम किए दूसरों का श्रमार्जित धन छीनकर उसका उपभोग करना धर्म नहीं माना जा सकता।''

वाल्मीकि को बात समझ में आ गई, वे सोचने लगे, यह तो ठीक है कि वे मनुष्यों को मारकर उनकी संपत्ति को छीनकर अपने आश्रितों का पेट भर रहे हैं, परंतु इससे दूसरों का उत्पीड़न होता है और कोई भी ऐसा कार्य जिससे दूसरों को पीड़ा हो, दूसरे के प्रति अन्याय हो, 'धर्म' नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की अनुभूति ने वाल्मीकि को दस्यु से महर्षि बना दिया। 'धर्म' का तत्त्व जब उनके जीवन में प्रविष्ट हुआ तो स्वयं उनका व्यक्तिगत परिष्कार तो हुआ ही समाज की भी रक्षा हुई कि जो वाल्मीकि दस्यु के रूप में समाज का उत्पीड़न करते थे, वे ही 'धर्म' का साक्षात्कार कर, 'धर्म' को अंगीकृत कर करोड़ों मनुष्यों के मार्गदर्शक बन गए।

धर्म के विषय में ऐसी ही भ्रांत धारणा अर्जुन को भी थी। अर्जुन ने तो यहाँ तक कह दिया था कि यदि वह युद्ध में अपने मामा, चाचा, श्वसुर, गुरु, गुरु भाई को मारेगा, तो उसका आचरण धर्म विपरीत हो जाएगा। अर्जुन की 'धर्म' के प्रति यह धारणा उसके मोह का परिणाम थी, परंतु श्री कृष्ण ने उसके धर्म के प्रति ऐसी धारणा को अनुपयुक्त बताते हुए धर्म का सही स्वरूप बताया तथा उस समय की परिस्थिति में 'युद्ध' करने को ही 'धर्म' निरूपित किया। हर मनुष्य अर्जुन की तरह सत् और असत् वृत्तियों में से किसी एक का वरण करने के लिए प्राय: किंकर्तव्यविमूढ़ ही रहता है। मनुष्य की असद् वृत्तियाँ बलवती होती हैं, वे मनुष्य को असत् कार्य करने के लिए लालायित व आकृष्ट करती रहती हैं, परंतु भगवान कृष्णरूपी विवेक से हम सत्-असत्, उचित-अनुचित का निर्धारण कर धर्मतत्त्व का निर्धारण कर धर्ममान्य सद्वृत्ति को ही स्वीकार करते हैं। भगवान

कृष्ण का —'**यदा यदा हि धर्मस्य.....**' का वचन भी यही संकेत देता है कि अर्जुन की तरह जब मनुष्य सत्-असत् का निर्णय नहीं कर पाता, मोहवश अधर्म को ही 'धर्म' मान बैठता है। भ्रमवश अनुचित को ही उचित समझने लगता है तो फिर उसका यह कार्य 'धर्म' की परिधि में नहीं रहता, उसका कार्य न तो उसके अभ्युदय-कल्याण में ही सहायक होता है और न उसके कार्यों से, उसके चिंतन से सामाजिक व्यवस्था ही सुरक्षित रहती है, अर्थात उस समय धर्म के प्रति मनुष्य की धारणा-विचारणा गलत हो जाने से 'धर्म' से होने वाले लाभ नहीं होते व इस तरह धर्म के प्रति विषाक्त धारणा बनाकर जो आचरण किया जाता है, वह भी 'श्रेय' न होकर 'प्रेय' ही अधिक रहता है। अत: धर्म की यह एक प्रकार से अति ही हुई, ऐसे में श्रीकृष्ण ने अवतार लेने की घोषणा कर धर्म संस्थापनार्थ के रूप में यही बात कही है कि जब-जब ऐसी स्थिति होती है, तब-तब मनुष्य यदि अपने विवेक का उपयोग करे, अपनी ऋतंभरा प्रज्ञा का उपयोग कर उचित-अनुचित का निर्धारण करे तो धर्म की तथा धर्म को ध्येय मानकर किए जाने वाले आचरण की उपयोगिता व्यक्ति परिष्कार व समाज-व्यवस्था की बनी रहेगी।

धर्म, मानव समाज और संस्कृति का मूलाधार है। इसी आधार-भूत तत्त्व के अनुसार संसार का 'शुभ' व 'कल्याण' टिका हुआ है। विश्व का कल्याण व मानवमात्र का 'शुभ' 'धर्म' विशिष्ट आचरणों में ही निहित है। अपने इस सार्वभौम स्वरूप के कारण पूरे विश्व का 'धर्म' तो एक ही है, जिसे विश्वधर्म, मानवधर्म कुछ भी संज्ञा दी जा सकती है। सामान्यत: धर्म के इस सार्वभौम स्वरूप की असीमता को नासमझ मनुष्यों ने 'धर्म' की अनेक संप्रदायों, जातियों, वर्गों द्वारा पालन की जाने वाली उपासनापद्धति, पूजापद्धति, कर्मकांडों के प्रकार आदि की विविधता के कारण इन संप्रदायों को ही धर्म मान लिया है। वास्तव में 'धर्म' तो एक ही है। 'धर्म' के लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए जो अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे 'धर्म' नहीं, वरन् संप्रदाय हैं। धर्म मानो महासागर हैं और संप्रदाय नदियाँ हैं, जो विभिन्न

स्थानों और दिशाओं से आकर इस महासागर में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विलीन हो जाती हैं। यदि इन नदियों को ही भ्रमवश कोई सागर समझ ले व अपने सागर की महत्ता का ही ढिंढोरा पीटने लगे तो नदी सागर तो बन नहीं सकती। धर्म का तो एक ही लक्ष्य है— 'सत्य' 'शिव' 'सुंदर' अर्थात ऐसे आचरण जो सत्य हों, शुभ हों, कल्याणकारक हों तथा सुंदर हों। धर्म के इस लक्ष्य की उपलब्धि के लिए विभिन्न मार्ग पूजा, उपासना, अनुष्ठान आदि की व्यवस्था विभिन्न संप्रदायों में प्रचलित रहती हैं। इनमें से किसी संप्रदाय में कोई पद्धति विशेष अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है, किसी में कम। इसी से हम इन पद्धतियों के प्रभावी होने न होने को यह मान लेते हैं, मानो अमुक धर्म अमुक से श्रेष्ठ अथवा निम्नतर हैं। वास्तव में धर्म तो अपने स्थान पर स्थिर, अटल, शाश्वत है, उस तक पहुँचने के मार्ग अपेक्षाकृत सुविधाजनक अथवा कष्टप्रद हो सकते हैं, परंतु उनके कारण 'धर्म' प्रभावित नहीं होता।

धर्म के प्रति एक भ्रांति इसके अँगरेजी के अनुवाद ने उत्पन्न कर दी, अँगरेजी में धर्म को 'रिलीजन' कहा गया, वास्तव में शब्द रिलीजन से जो ध्वनि निकलती है, उससे संकीर्णता का आभास होता है। 'धर्म' जब से 'रिलीजन' माना जाने लगा तो इसका अर्थ यही लगाया जाने लगा कि यह एक विशेष प्रकार की पूजा-अराधाना पद्धति में आस्था-विश्वास रखने वाला तथा एक विशेष प्रकार के मार्ग पर यंत्रवत् चलने वाला संप्रदाय विशेष है। विद्वान बैबूर ने अपनी पुस्तक 'हिंदुइजम ऐट ए ग्लान्स' में लिखा है, 'रिलीजन' शब्द का अर्थ एक विश्वास और पूजाविधि है। किसी समुदाय विशेष के सिद्धांतों में विश्वास करना तथा उस संप्रदाय द्वारा निर्दिष्ट कुछ विशेष पूजा, अनुष्ठान आदि का पालन करना ही पश्चिम की दृष्टि में धार्मिक कहे जाने वाले व्यक्ति के लिए पर्याप्त है। शब्द 'रिलीजन' से एक ऐसे संकुचित व अपूर्णभाव का बोध होता है कि उसमें धर्मतत्त्व समाहित नहीं होता। धर्म का अनिवार्य तत्त्व उसकी उदारता, महानता, सार्वभौम सत्ता में निहित है, जबकि 'रिलीजन' में इस तरह के भाव प्रकट नहीं होते।

धर्म एक अपरिवर्तनशील शाश्वत सत्ता है। धर्म सार्वभौम शक्ति है, जिसका लक्ष्य ही, **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'** है। धर्म एक ऐसी सत्ता है जिसकी शक्ति व सीमाएँ असीम हैं। वह राजसत्ता से कई गुना अधिक व्यापक व शक्तिमान है। अपने छोटे-भौगोलिक क्षेत्र में, निश्चित परिधि में ही राजसत्ता काम करती है, परंतु धर्मसत्ता का कार्य-क्षेत्र समूचा विश्व है व इसकी शक्ति अपरिमेय है। विश्व का हर मानव इस धर्मसत्ता की प्रजा है व हर मानव स्वयं ही शासक भी है। धर्मसत्ता का कार्य-क्षेत्र न केवल मानवमात्र के स्थूलशरीर तक ही है, वरन् उसके मन, चिंतन, स्वभाव, गुण व उसकी आत्मा तक विस्तृत है। यदि हर मनुष्य इस सत्ता के अधीन अपने को संबद्ध कर ले, इस सत्ता के अनुशासन में रहे, अपना गुण-कर्म-स्वभाव बना ले तो वह स्वयं सत्तामय हो जाए।

धर्म धारणा से यथार्थ बोध

धर्म किन्हीं विशेष अभिरुचि के या फालतू समय वालों के मन बहलाव का माध्यम है अथवा उसका कोई सार्वजनिक उपयोग भी है? इस प्रश्न के उत्तर में हमें धर्म का स्वरूप और उद्देश्य समझने का प्रयत्न करना होगा और यह जानना होगा कि क्या तथाकथित धर्माध्यक्षों द्वारा अपने-अपने ढंग से किया गया बहुमुखी प्रतिपादन ही धर्म है अथवा उसके पीछे व्यक्ति और समाज के उपयोगी मार्गदर्शन की तथ्यपूर्ण क्षमता भी है।

सर जूलियस हक्सले ने अपने ग्रंथ 'रिलीजन विदाउट रिविलेशन' में धर्म संप्रदायों के सम्मिलित सत्य और असत्य की समीक्षा करते हुए लिखा है कि सत्य, ज्ञान और सौंदर्य की अभिव्यक्तित्वों से जो धर्म जितना पिछड़ा हुआ है, उसे उतना ही झूठा और नीचा समझा जाना चाहिए। सालोमन रीनाइक की यह उक्ति एक खीज भर है, जिसमें उन्होंने धर्म पर 'मानवीय क्षमताओं पर रोक लगाने' का आक्षेप किया है। वस्तुतः वैसा है नहीं। धर्म की मूलात्मा न्याय, कर्तव्य एवं औचित्य का समर्थन करती है। प्रथा-परंपराएँ तो धर्म के

आवरण मात्र हैं, जिन्हें समय-समय पर बदले जाने की आवशयकता पड़ती है।

देशभक्ति ही सब कुछ नहीं है। विश्वभक्ति उससे भी ऊपर है। समाज का कितना ही महत्त्व क्यों न हो, बहुमत की मान्यताओं के समर्थन में कुछ भी क्यों न कहा जाता रहे, अंतत: विवेक ही सबसे ऊपर है। उसे देशभक्ति से भी ऊँचा स्थान मिलना चाहिए। **'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'** के आधार पर विधान कुछ भी क्यों न बनते रहें, उच्च आदर्शों का स्थान सबसे ऊँचा है, भले ही उनके समर्थन में नीतिनिष्ठ व्यक्तियों की थोड़ी-सी ही संख्या क्यों न हो?

धर्म दुधारी तलवार है, यदि वह अपरिपक्व दर्शन और संकीर्ण सांप्रदायिकता का समर्थन भर करता है तो वह हानिकारक है, किंतु यदि उसमें नीति, निष्ठा का समुचित समावेश है तो उसके द्वारा मनुष्य और समाज का हितसाधन ही होगा।

विज्ञान और धर्म के शोध-विषय पृथक हैं। एक पदार्थ की गहराई को खोजता है। दूसरा चेतना के मर्मस्थल को। इतने पर भी दोनों का मूल प्रयोजन एक है—सत्य की शोध। इसके लिए आवश्यक है कि मस्तिष्क को किन्हीं पूर्वाग्रहों से जकड़कर न रखा जाए। पिछले लोग क्या सोचते, क्या कहते और क्या करते रहे हैं? इसकी जानकारी उत्तम है, उसके सहारे तथ्यों तक पहुँचना पड़ता है, पर यह मानकर नहीं चला जा सकता कि जो जाना या माना गया है, उसमें संशोधन या सुधार की गुंजाइश नहीं है। तथ्यों को स्वीकार करने की शोधदृष्टि में यह साहस रहता है कि यदि प्रचलित स्वीकृतियों से भिन्न प्रकार के तथ्य सामने आते हैं तो उनके स्वीकार करने में इसलिए असमंजस न करना पड़ेगा कि अब तक के चिंतन को झुठलाना पड़ेगा।

तर्कहीन मन:स्थिति का नाम धार्मिकता नहीं है। आँखें बंद करके किसी के भी वचन को गले नहीं उतारना चाहिए। अपने लोग कहते हों या पराए—बात संस्कृत या अरबी भाषा में कही गई है

अथवा बोल-चाल की भाषा में, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। स्वीकार करने योग्य वही है, जिनमें तथ्य जुड़े हुए हों और जिसे विवेक की कसौटी पर खरा सिद्ध किया जा सके। बिना खोज-परख के जो धर्म के नाम पर किसी मान्यता या प्रथा को स्वीकार कर ले, वह स्वस्थ दृष्टि नहीं है। धार्मिक मन सत्य का उपासक होता है, उसे औचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। भले ही इसके लिए उन्हें पूर्वजों की अथवा उपदेशकों, ग्रंथों अथवा साथियों की ही अवहेलना क्यों न करनी पड़े!

जीवन का अर्थ है— संघर्ष, परिस्थितियों का आरोह, अवरोह, जिसे परिवर्तन भी कहा जा सकता है। अर्थात परिवर्तन ही जीवन है और जीवन ही परिवर्तन। जीवन में दैत्यता, कुटिलता के आकस्मिक एवं अप्रत्याशित आक्रमणों को सहन करना अस्वाभाविक नहीं। परेशानियों, कष्टों और आपदाओं की आँधी आती है तो मानव शक्ति को कुंठित कर देती है। फलस्वरूप बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है, नैराश्यपूर्ण मानसिकता मनुष्य को किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती है, ऐसी विषम परिस्थिति में, असहाय, निरुपाय व्यक्ति यह चिंतन करता है कि हमारा सहायक कौन हो सकता है? हमारी रक्षा कौन कर सकता है? हमारा उद्धार कौन कर सकता है? साथ ही सतपथ का ज्ञान कौन करा सकता है? उत्तर एक ही है—धर्म। सुख-शांति की परिस्थितियों का जनक भी धर्म है। कहना न होगा कि जिस दिन इस जगत से धर्म की समाप्ति हो जाएगी उस दिन सर्वनाश को कोई न रोक सकेगा। पाश्चात्य मनीषी थामसन अपनी समष्टि दृष्टि से धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं—"संपूर्ण विश्व मेरा देश है, संपूर्ण मानवता मेरा बंधु है और संपूर्ण भलाई ही मेरा धर्म है।"

वर्तमान युग में धर्म के प्रति लोगों की अनास्था बढ़ रही है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं में भी अवमूल्यन निरंतर होता जा रहा है। अधर्माचरण के कारण मनुष्य की सुख-शांति भंग होती जा रही है, सर्वत्र असंतोष का वातावरण व्याप्त है।

चतुर्दिक् भटकने के उपरांत, दृष्टि में एक ही उपाय परित्राण में सहायक सिद्ध हो सकता है—'धर्म' वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि धर्मशास्त्रों में इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है। धर्मप्रधान युग अर्थात सत्प्रवृत्तियों की बहुलता वाला युग 'सतयुग' कहलाता है, सतयुग में सुख और संपन्नता का आधार धर्म है।

भगवान राम जब वन—गमन के लिए तत्पर हुए तो जीवन-रक्षा की कामना से उन्होंने माता कौशल्या से आशीर्वाद की आकांक्षा व्यक्त की। विदुषी माता ने उस समय यह कहा—"हे राम! तुमने जिस धर्म की रीति और नियम का पालन किया है, जिसके अनुसरण से तुम वन जाने को तत्पर हुए हो,वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।"

जो व्यक्ति धर्म का पालक-पोषक होता है वही सच्चा धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति के अंत:करण में वह शक्ति होती है जो असंख्य विघ्न-बाधाओं, प्रतिगामी शक्तियों को पराजित कर देती है। धार्मिक मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है, वह सर्वत्र सौरभ बिखेरता चलता है, उसकी उमंग एवं उल्लास से आस-पास का वातावरण भी प्रभावित होता है। धर्म की प्राणसत्ता निर्जीव को भी सजीव बनाने में समर्थ होती है। 'जीवट' सच्चे धार्मिक का प्रधान लक्षण होता है। वस्तुत: धर्म मनुष्य का वह अग्नि तेज है जो प्रकाश उत्पन्न करता है, उसमें क्रियाशीलता एवं जिजीविषा जाग्रत् रखता है। धर्मशील व्यक्ति विभिन्न विपदाओं, विघ्न-बाधाओं में भी हिमालय के समान अटल एवं समुद्र के सदृश धीर-गंभीर रहता है। संक्षेप में कहा जाए तो धर्म जीवन का प्राण और मानवीय गरिमा का पर्याय है, उससे ही मानव जाति की सुख-शांति और व्यवस्था अक्षुण्ण रह सकती है।

विज्ञान उपयोगी है, परिपूर्ण नहीं

विश्व में फैली ज्ञान की दो धाराओं धर्म और विज्ञान का प्रादुर्भाव दो भूमिखंडों से हुआ है। समस्त जीवित और महान धर्मों की जन्मभूमि आज का सीमित, किंतु कभी का बृहत्तर भारत है। प्राकृतिक विज्ञानों का पाश्चात्य जगत। एक अंतर्मुखी और आत्मनिष्ठ है, दूसरा बहिर्मुखी और वस्तुनिष्ठ। एक इंद्रियातीत तत्त्वों के रहस्यों के उद्‌घाटन में व्यस्त, दूसरा इंद्रियग्राह्य वस्तुओं के संदर्भ में प्रयत्नशील।

भारतीय विचारधारा मूलत: धार्मिक विचारधारा है। हिंदू, बौद्ध, जैन, यहूदी, मुसलमान और येरुशलम की भूमि में उपजे क्रिश्चियन धर्म की रोमन कैथोलिक शाखा का अनुयायी ईसाई—इन सबकी व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन जीने की रीति-नीतियाँ, मान्यताएँ, दृष्टिकोण और व्यावहारिक गतिविधियाँ अपने-अपने धर्मों के द्वारा प्रतिपादित नियमों द्वारा नियमित और संचालित होती हैं, किसी समय आध्यात्मिकता उत्पन्न करने वाला यह सारा क्षेत्र बृहत्तर भारत की परिधि में आता था, जिसे इन दिनों एशिया कहते हैं।

देश, काल, परिस्थिति ने इन धर्मों को भिन्न-भिन्न कलेवर तो धारण करा दिए हैं, कर्मकांड और विचार-व्यवहार के ढंग तो अलग-अलग कर दिए हैं, परंतु उनका मांस और प्राण, उनकी मूल मान्यताएँ बहुत बड़े अंश में समान हैं। उदाहरणार्थ उपरोक्त सभी धर्म मरणधर्मा शरीर को नियंत्रित और संचालित करने वाली ऐसी सत्ता-आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, जिसका इस जीवन के परे भी अस्तित्व बना रहता है। तथा ऐसी ही अन्य उभयनिष्ठ आधारभूत मान्यताओं ने इन धर्मों के अनुयायियों के संपूर्ण जीवन को, इंद्रिय-मस्तिष्क, हृदय

की प्रत्येक क्रिया को, अनुशासित करने का न केवल प्रयत्न किया है, वरन् परलोक के लोभ और भय दिलाकर आत्मा के कल्याण के लिए अनेक विधि-निषेधों को मानने को मजबूर भी किया है।

इसे स्वस्थ्य स्थिति नहीं कहा जा सकता। एशियायी धर्मों ने स्वर्ग और निर्वाण के प्रति, पारलौकिक जीवन के प्रति, अपने अनुयायियों के झुकाव, रुचि और ललक को इतना तीव्र कर दिया है कि इहलोक का मूल्य भव-बंधन एवं माया जाल कहा जाने लगा। वैयक्तिक जीवन से श्रम, कर्म, स्वावलंबन और आत्मविश्वास, पारिवारिक जीवन से घनिष्ठता-उदारता तथा सामाजिक जीवन में सामूहिकता की भावना और सहयोग जैसे सद्‌गुण इस पारलौकिकता की अति से लुप्त होने लगे। अपनी मेहनत से धरती को स्वर्ग बनाने और इसी जीवन में स्वर्ग में रहने का आनंद पाने के बदले किसी बने बनाए स्वर्ग में मृत्यु के उपरांत पहुँचने और सुख पाने की मोहक कल्पना ने जन मानस को ग्रस लिया। परलोकवाद का एकांगी पक्ष एक घातक रोग बन गया और उसने सर्वतोमुखी प्रगति के मार्ग में बाधा ही पहुँचाई।

इसके विपरीत पश्चिमी विचारधारा मूलत: विज्ञान प्रेरित विचारधारा है। इंद्रियग्राह्य वस्तु व विषय ही प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन एवं अनुसंधान का क्षेत्र है। अब तक के अधिकांश वैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान का मुख्य उद्‌देश्य केवल इतना रहा है कि ऐहिक जीवन को अधिक सुख-सुविधा युक्त बनाने के लिए प्रकृति का दोहन किस प्रकार किया जा सकता है? इस विचारधारा ने जहाँ मनुष्य को साहसी, कर्तव्यपरायण, कर्मशील और व्यावहारिक बनाया है, वहीं उसे बहिर्मुखी, सुखवादी और अनात्मवादी भी बना दिया है। कर्मफल के नियम और आत्मकल्याण की कल्याणकारी आस्था को हटाकर, औचित्य की समस्त सीमाओं को लाँघती विलासिता ने तथा स्नेह रहितता, असुरक्षा और तनाव ने पश्चिमी मन को ग्रस लिया।

यद्यपि यह सही है कि धर्म के समान प्राकृतिक विज्ञान भी गणित की गिनती, भौतिकी की ऊर्जा, रसायन की संयोजकता जैसे

अनेक अवस्तुनिष्ठ विचारों (ऐब्सट्रेक्ट आइडियाज) की नींव पर टिके हैं, तथापि यह भी सही है कि उन विज्ञानों से उपजी पश्चिमी विचारधारा व सभ्यता का वर्तमान स्वरूप केवल वस्तुनिष्ठता या वैषयिकता से, अर्थात केवल इहलोकवाद से नाता जोड़े हुए है। परलोकवाद के समान इहलोकवाद भी पश्चिम का एक संक्रामक घातक रोग बन चुका है।

धर्म और विज्ञान की ये स्थितियाँ एक दूसरे के बिलकुल विरुद्ध पड़ती हैं और प्रतीत होता है कि उनमें समझौते की तनिक भी संभावना नहीं है, किंतु सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचारधाराओं के बीच में संतुलन का बिंदु भी विद्यमान है। गतिमान पैंडुलम जब बाएँ या दाएँ छोर पर पहुँच जाता है, तब विपरीत दिशा में लौटने के सिवाय उसके पास कोई चारा नहीं रह जाता। यह डोलना, यह अस्थिरता उस समय तक जारी रहती है, जब तक कि मध्य की संतुलित स्थिति स्थाई रूप से प्राप्त न हो जाए। आत्मवादी धर्म और पदार्थवादी विज्ञान को मध्यमान संतुलन-बिंदु की विपरीत दिशाओं में स्थित जो अतिवादी व अस्थाई स्थितियाँ हैं, वहाँ से उन्हें संतुलन बिंदु की ओर लौटना ही होगा। इससे मिलता-जुलता उदाहरण देते हुए हरबर्ट स्पेन्सर यह मत प्रतिपादित करते हैं कि "अंतिम सीमा तक विकसित हुए भावनात्मक (धार्मिक) संस्कृति को चेतनात्मक (पदार्थवादी) संस्कृति की दिशा में तथा चेतनात्मक संस्कृति को भावनात्मक संस्कृति की दिशा में लौटने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं है।' इस प्रकार इस विचित्र-किंतु तर्कसिद्ध निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं कि परम सत्य की खोज में संलग्न धर्म और प्राकृतिक विज्ञान अस्थाई स्थितियों पर स्थित होने के कारण स्वयं ही 'असत्य' की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। तर्क, प्रयोग और अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि दो अतिवादी स्थितियों के मध्यमान पर ही 'सत्य' स्थित होता है, क्योंकि वही पर संतुलन और स्थायित्व उपलब्ध होते हैं। यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लिया

जाना चाहिए कि यह स्थायित्व जड़ता का सूचक नहीं है, वरन् गतिशील संतुलन का, मध्यमान का गुण है।''

इस संतुलित मध्य स्थिति को प्राप्त करने में, जिसमें धार्मिक और वैज्ञानिक विचारधाराओं का आनुपातिक समन्वय हो जाता है, दर्शन बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रसन्नता की बात है कि सर्वोच्चकोटि के वैज्ञानिकों ने भी दर्शन की इस उपयोगिता को अब स्वीकार कर लिया है। परिणामस्वरूप मानवीय इतिहास का नया और कल्याणकारी युग प्रारंभ करने की सामर्थ्य से युक्त वैज्ञानिक और धार्मिक विज्ञान की प्रतिष्ठा स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

अंधश्रद्धा उपार्जित, कल्पना प्रभूत-अवास्तविकता पर आधारित धर्म स्वतंत्र इकाई के रूप में कितना हानिप्रद है—इसका अनुमान व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले उसके दुष्प्रभावों को देखकर लगाया जा सकता है। गैलीलियो और आर्कमिडीज के प्राणहरण से लेकर धर्मोन्माद और धर्मयुद्ध तक, तथा परदा प्रथा से लेकर गलत कार्य (पाप) की अनिवार्य हानिकारक प्रतिक्रिया (दंड) तक मात्र स्नान द्वारा मुक्ति तक सैकड़ों, सहस्त्रों धार्मिक अंधविश्वास और मूढ़मान्यताएँ धर्म के नाम पर मानव मस्तिष्क पर हावी हो गई हैं। गुरुडम नामक तानाशाही बैकुंठ निर्वाण दिलाने की दलाली आनुवंशिक उच्चता तथा प्रजातीय उच्चता का अहंकार जैसी अनेक अवैज्ञानिक मान्यताएँ व परंपराएँ धर्म की दुहाई देकर फल-फूल रही हैं। 'कारण-कार्य' का नियम एवं धार्मिक सिद्धांतों व नियमों का पुनः परीक्षण करने का प्रत्येक जिज्ञासु को अधिकार है। उनकी सुस्पष्ट एवं सर्वज्ञात विधि-व्यवस्था, प्रमाणित तथ्यों की मान्यता—जैसे वैज्ञानिक आधार धर्म व्यवस्था में ढूँढ़े नहीं मिलते, किंतु आशा की जानी चाहिए कि वैज्ञानिक धर्म जब कभी मानव समाज में प्रचलित होगा, तब क्यों-कैसे की कसौटियाँ ही धार्मिक सिद्धांतों व क्रियाकलापों की मान्यता और समाज में उनके प्रसारण की स्वीकृति का प्रमाण पत्र प्रदान किया करेंगी।

विज्ञान भी स्वतंत्र इकाई के रूप में कितना अपूर्ण है, इसकी झलक जेम्स जीन्स के इस वक्तव्य से मिलती है 'विज्ञान गूँगा और बहरा है। वह एक हथेली पर पैनिसिलीन और दूसरी पर परमाणु बम रखकर तुम्हारे पास आता है। अब यह तुम पर निर्भर है कि तुम किसे पसंद करते और उठाते हो।' तात्पर्य यह हुआ कि विज्ञान चुनाव संबंधी कोई सलाह नहीं देता, न ही गलत चुनाव के दुष्परिणामों की शिकायत सुनना चाहता है।

तब सही मार्गदर्शन कहाँ प्राप्त हो ? असमंजस की इस स्थिति में धर्म-वास्तविक धर्म-सहायता का हाथ बढ़ाता है। वह सत्य, न्याय और लोक-मंगल की कसौटियाँ प्रस्तुत करता है। प्राकृतिक विज्ञानों की जो भी देन कसौटियों पर खरी उतरें, वे ही ग्रहणीय हैं, शेष नष्ट करने योग्य। जब कभी भी धार्मिक विज्ञान विश्व में प्रचलित होगा, उपर्युक्त कसौटियाँ ही अनुसंधान की दिशाओं को निश्चित किया करेंगी।

पदार्थ कितना ही मूल्यवान एवं उपयोगी क्यों न हो। उसकी कोई कीमत तभी है, जब चेतन प्राणी उसे उस प्रकार की मान्यता दे। अन्यथा वस्तु की दृष्टि से हीरा और कोयला लगभग एक ही स्तर के होते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से लोहा सोने की अपेक्षा अधिक कारगर है, पर मनुष्य ने जितनी मान्यता जिसको दी उसी अनुपात से उसका मूल्य बढ़ा है। पदार्थ अपनी उपयोगिता स्वयं सिद्ध नहीं कर सकते। मनुष्य की बुद्धि ही उन्हें खोजती है और काम में लाने योग्य बनाती है। अस्तु, पदार्थ की तुलना में चेतना का महत्त्व अधिक हुआ, स्वयं विज्ञान का विकास भी बुद्धि-कौशल की ही प्रतिक्रिया है। ऐसी दशा में चेतना के मूल अस्तित्व को स्वीकार न करना, उसे जड़-शरीर के सम्मिलन से उत्पन्न हलचल भर मानना, यही सिद्ध करता है कि वैज्ञानिकों ने उस क्षेत्र को आधा-अधूरा ही समझा है, जिसमें वे अपनी सारी अन्वेषण प्रक्रिया सँजोए हुए है।

पदार्थ विज्ञान की ही बात लें तो प्रतीत होगा कि उसकी खोज के साधन रूप में जड़ पदार्थों का ही उपयोग होता है। जिन यन्त्र-उपकरणों के माध्यम से प्रकृतिगत हलचलों का पता लगाया जाता और उपलब्ध ज्ञान का उपयोग किया जाता है, वे स्वयं जड़ पदार्थों के बने हुए होते हैं। उसकी पकड़ और पहुँच अपनी सीमा तक ही काम कर सकती है। मस्तिष्क का सचेतन इंद्रियगम्य ज्ञान विशुद्ध भौतिकी है। इसे मन कहते हैं। जानकारियाँ प्राप्त करना और खोज-कुरेद करना इसी का काम है। बुद्धि और अन्वेषण उपकरणों की सहायता से ही वैज्ञानिक खोज-बीन का ढाँचा खड़ा किया जाता है। ऐसी दशा में चेतनसत्ता का वास्तविक स्वरूप और बल प्रकट नहीं हो सकता। उसके प्रकटीकरण में चेतना का वह भाग प्रयुक्त करना होता है, जिसे अंतर्मन, उच्च मन, अंतरात्मा, अतींद्रिय तत्त्व कहते हैं। ब्रह्मविद्या उसी की विवेचना करती है। तत्त्वदर्शन का आविष्कार इसी निमित्त हुआ है। ऋतंभरा प्रज्ञा, भूमा, धी इसी प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होती है। अतींद्रिय ज्ञान के सहारे ही चेतन तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकना संभव है। इसकी उपेक्षा करके जो विज्ञान काम में लाया जा रहा है, उसे अपूर्ण ही कहना चाहिए।

वैज्ञानिक विचारक एडिंगटन ने इधर विज्ञान की इस मान्यता पर, कि वही वस्तुओं का सही-सही वर्णन कर सकता है, अनेक प्रश्नचिह्न लगा दिए हैं। अपनी पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ फिजीकल साइंस' में उन्होंने कहा है कि जब हम अणुओं अथवा किसी तत्त्व के गुणों की चर्चा करते हैं तो ये गुण उन अणुओं या पुद्गल तत्त्वों के एकमात्र वास्तविक गुण कदापि नहीं माने जा सकते। अपितु ये तो वे गुण हैं, जिन्हें हमने अपनी प्रेक्षण-विधि द्वारा उन अणुओं या पुद्गल तत्त्वों पर आरोपित कर दिया है। इस प्रकार एडिंगटन ने निष्कर्ष निकाला है कि विज्ञान जिस जगत का वर्णन करता है, वह और भी अधिक आत्मपरक होता है, जबकि अभी तक कथित पदार्थवादी या वैज्ञानिक भौतिकतावादी इसी बात पर जोर देते थे कि अध्यात्मवादियों

का संपूर्ण चिंतन आत्मनिष्ठ होता है, वस्तुपरक नहीं और वस्तुपरक चिंतन तो मात्र विज्ञान द्वारा ही संभव है।

एडिंगटन ने अपनी बात एक उदाहरण द्वारा समझाई है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक मछुआ कुछ मछलियों को पकड़ता है, फिर वह वर्णन करता है कि मछलियाँ इस-इस तरह की होती हैं तो मछुए का यह वर्णन सिर्फ उन्ही मछलियों पर लागू होता है, जिन्हें उसने पकड़ा है। उसी प्रकार भौतिकशास्त्र का विश्व संबंधी ज्ञान केवल उन्हीं वस्तुओं पर लागू हो सकता है, जिन्हें हम अपनी इंद्रियों, उपकरणों तथा बुद्धि की पकड़ में ला सकते हैं। इस प्रकार भौतिकशास्त्र में जिसे हम सामान्य कथन या प्रकृति के नियम कहते हैं, वे एक ऐसे सार का वर्णन हैं, जो हमारे अपने बोध पर निर्भर है। इसे ही एडिंगटन 'चयनात्मक आत्मनिष्ठतावाद' (सलेक्टिव सब्जेक्टिविज्म) कहते हैं।

इसलिए जानसन ने 'फ्राम दि फिजीकल टू दि सोशल सांइंसेज' में लिखा है—'हमारे पास यह कहने का कोई आधार नहीं है कि भौतिकशास्त्र के सिद्धांत जिन कारणों का उद्‌घाटन करते हैं वे वस्तुओं की असली प्रकृति हैं। उदाहरण के लिए इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन आदि को लें, इनकी असली प्रकृति क्या है? यह पूरी तरह कोई वैज्ञानिक नहीं कह सकता। जिस रूप में इनका वर्णन किया जाता हैं, वह वैज्ञानिकों के विभिन्न प्रेक्षणों (आब्जर्वेसंस) को संबद्ध करने के लिए आवश्यक गुण मात्र हैं। इनकी वास्तविक सत्ता का पूर्ण विवरण ज्ञात नहीं है।

विज्ञान के द्वारा आविष्कृत इस 'अनिश्चयात्मकता' ने आज जहाँ एक ओर ऐसे 'दर्शन' को जन्म दिया है, जो 'दर्शनशास्त्र' मात्र के विरोधी हैं तथा जिनका कहना है कि सृष्टि संबंधी कोई भी दार्शनिक-समीक्षा मात्र परिकल्पनात्मक होती है, उसकी वास्तविकता की जाँच संभव नहीं हैं, वहीं दूसरी ओर अनेक स्थापित वैज्ञानिक सिद्धांतों के पैर उखाड़ दिए हैं।

विटगेन्स्टाइन तथा अन्य तर्कमूलक भाववादियों (लाजिकल पाजिटिह्विस्ट्स) की मान्यता है कि प्रकृति के नियम सामान्य कथन नहीं हो सकते, बल्कि वे 'प्रोपोजीशनल फंक्शन' मात्र होते हैं। उनके द्वारा वर्तमान मूल्यों के विभिन्न मान रखकर परीक्षण के लिए विशेष कथन तो प्राप्त किए जा सकते हैं, पर कोई सामान्य कथन नहीं निकाले जा सकते, जबकि वैज्ञानिक प्रवर आइन्स्टाइन मानते थे कि प्रत्येक वैज्ञानिक इस निश्चित धारणा के साथ ही अनुसंधान करता है कि यह विश्व एक सुसंगत तथा कारण-कार्यमूलक इकाई है। देखने में ये दोनों निष्कर्ष परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, पर ये वैसे हैं नहीं। ये वस्तुत: यथार्थ के दो भिन्न-भिन्न स्तरों के भिन्न-भिन्न विश्लेषण हैं।

आज विज्ञान भी यथार्थ एवं आभास का अंतर कहाँ मान रहा है। वेदांत-मत में इसे ही पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य के रूप में विश्लेषित किया गया है। वैज्ञानिकों द्वारा यथार्थ का यह परीक्षण कि सृष्टि की मूलसत्ता उस रूप में नहीं है, जैसे कि व्यवहारत: हम जानते-मानते हैं, वेदांत के सर्वदा अनुरूप है। यह ध्यान रहे कि वैज्ञानिक यह कतई नहीं मानते कि विश्व कुछ है ही नहीं और सब 'शून्य' है।

एडिंगटन ने 'न्यू पाथवेज इन साइंस' नामक ग्रंथ में स्पष्ट कहा है—"मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भौतिक विश्व का अस्तित्व ही नहीं है।" वस्तुत: भौतिक विश्व व्यवहारत: पूर्ण सत्य है, उसमें एक निश्चित विधि-व्यवस्था है, क्रमबद्धता है। अनिश्चित सिद्धांत का भी यह अर्थ नहीं कि इस दुनिया में सभी कुछ अनिश्चित है। इससे सर्वथा विपरीत वैज्ञानिकों और वेदांतियों का यह मत है कि सृष्टि में सर्वत्र कारण-कार्य भाव विद्यमान है। प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है। अनिश्चित के सिद्धांत से तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हम सृष्टि की मूलसत्ता को पूरी तरह कभी नहीं जान सकते, क्योंकि प्रयोग के उपकरण

और माध्यम भी उसी सृष्टि के अंश है, जिसका परीक्षण किया जा रहा है।

वैज्ञानिक विश्लेषणों के तीन मुख्य दार्शनिक निष्कर्ष हैं— (१) ब्रह्मांड का आदि कारण कोई अतिसूक्ष्म एकमेव सत्ता है, जो चेतन है, किंतु पूरी तरह पदार्थविहीन नहीं। तरंगों का जो रूप ज्ञात हुआ है, वह प्रकृति की मूल शक्ति के सापेक्ष स्वरूप को स्पष्ट करता है। प्रकृति की यह मूलशक्ति वेदांत-विचार की माया की तरह अवरार्ध, अव्याख्येय है। शुद्ध माया या मूलशक्ति तो चेतन से घनिष्ठता से संबद्ध है, पर स्वयं चैतन्यमात्र नहीं। वह पूरी तरह द्रव्यातीत नहीं।

(२) सृष्टि का ठीक-ठीक स्वरूप जाना नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे ज्ञान की सीमाएँ है। उसके द्वारा हम उससे परे का यथार्थ नहीं जान सकते।

(३) वैज्ञानिकों का तीसरा निष्कर्ष यह है कि भौतिक विश्व आभास का (एपियरेन्स का) क्षेत्र है, यथार्थ का नहीं। यथार्थ उसकी पृष्ठभूमि में है। अर्थात विश्व की व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक या परम यथार्थ सत्ता नहीं है। स्पष्टत: यह वेदांत मत के अनुसार है।

अपनी पुस्तक "दि न्यू बैकग्राउंड ऑफ साइंस" में सर जेम्स जीन्स ने भी कहा है, सृष्टि में हम जो विधि-व्यवस्था पाते हैं,वे अत्यंत स्पष्टता तथा सरलता से आइडियलिज्म की भाषा में वर्णित-व्याख्यायित हैं।

यथार्थ और आभास (रियलिटी एण्ड अपियरेन्स) की विवेचना करते हुए वैज्ञानिक अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रकृति को हम पूरी तरह कभी भी जान नहीं सकेंगे। उसका मूलस्वरूप सदा ही अज्ञात रहेगा, क्योंकि जैसे ही हम 'जानने' की चेष्टा करते हैं, हम उसमें 'व्यवधान' उपस्थित करने लगते हैं। इसलिए महान वैज्ञानिक हाइजन बर्ग ने 'अनिश्चय का सिद्धांत' प्रतिपादित किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी माध्यम के द्वारा फिर वह प्रकाश हो, ऊर्जा हो

या कुछ और जैसे ही हम 'मैटर' के किसी अंश से संपर्क करते हैं, हम उसके प्राकृतिक स्वरूप में व्यवधान उपस्थित कर देते हैं। इस प्रकार इलेक्ट्रॉन का असली स्वरूप क्या है, यह कभी भी नहीं जाना जा सकता, हम इलेक्ट्रॉन की स्थिति एवं वेग का प्रकाश की सहायता से सूक्ष्म उपकरणों द्वारा परीक्षण करते हैं तो प्रकाश का यह सहयोग कथित इलेक्ट्रॉन की स्वाभाविक दशा को निश्चित ही प्रभावित कर देता होगा। फिर परीक्षण के लिए प्रयुक्त उपकरण भी उसी सृष्टि के एक अंश हैं, जिनके द्वारा कि उस सृष्टि का रहस्य जानने का प्रयास किया जा रहा होता है। इन उपकरणों का संपर्क परीक्षित किए जा रहे अंश को स्वाभाविक नहीं रहने दे सकता। इस प्रकार प्रयोगों द्वारा यथार्थसत्ता का ज्ञान असंभव है।

जगत का स्वरूप समझने की वैज्ञानिक विधि इंद्रिय ज्ञान तक सीमित है। सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों द्वारा एकत्र जानकारी मस्तिष्क को इंद्रियों द्वारा ही मिलती है। स्थूल दृश्य जगत की यथार्थता जानने-समझने में ही हमारी ज्ञानेंद्रियाँ बराबर धोखा खाती रहती हैं, मस्तिष्क भी पग-पग पर भ्रम में पड़ता रहता है। स्पष्ट है कि इन आधारों पर जब प्रत्यक्ष-जगत के बारे में ही सही निष्कर्ष निकाल पाना संभव नहीं, तो अदृश्य सूक्ष्म जगत में तो हमारी सीमाएँ स्पष्ट हैं। अणुसंरचना के स्पष्टीकरणों द्वारा जो जानकारी और सहायता एकत्र की गई है, उससे अधिक आश्रय अनुमान पर आधारित गणितपरक आधारों का लिया गया है, तभी कुछ निष्कर्ष निकाले जा सके हैं।

यथार्थ की तह तक पहुँचने के लिए, सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए परख के आधार को अधिक बिस्तृत करना होगा। इस दिशा में विज्ञान के प्रयास चल पड़े हैं।

इस तरह से अच्छा हो, यदि हम धर्म को 'अपूर्ण विज्ञान' कहें और विज्ञान को 'अपूर्ण धर्म'। यह पर्यायवाची शब्द जहाँ उनकी निजी विशेषताओं पर जरा भी आँच नहीं लाते। वहीं उनकी अपूर्णता और अन्योन्याश्रितता को भी उभारकर हमारे सामने लाते हैं और

हमारी भ्रांति को दूर करते हैं कि उनमें कोई एक प्रमुख और प्रभावशाली है तथा दूसरा गौण और मुखापेक्षी।

वास्तविकता यह है कि मानव रचना में आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व दोनों लगे हैं। दोनों के तालमेल से ही जीवन सुसंगठित, संतुलित और उन्नत हो सकता है। आत्म विज्ञान और पदार्थ विज्ञान दोनों का समानुपातिक समन्वय ही इहलोक और परलोक को उत्साह व समृद्धि से तथा संतोष व आनंद से भर सकता है। धर्म और विज्ञान का—अर्थात आत्मा और अनात्म पक्षों का, परमात्मा और माया का, आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का, परलोक और इहलोक का ऐसा बुद्धिमत्तापूर्ण योग ही व्यावहारिक और उचित है।

पिछले कुछ समय की तथा वर्तमान समय की धर्म और विज्ञान के क्षेत्रों की गतिविधियाँ इस बात का संकेत दे रही हैं कि उनके बीच की कृत्रिम दीवारों के ढहने की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी है। पूर्वकाल में धर्म द्वारा निंदित और दंडित विज्ञान आज धर्म से हाथ मिलाकर उसे अपनी वैज्ञानिकता प्रदान कर रहा है, दूसरी ओर धर्म के शाश्वत सिद्धांत ने सर्वोच्च कोटि के वैज्ञानिकों के चिंतन को परम सत्य की शोध तथा मानव कल्याण के प्रयास की दिशा में बढ़ने की सफल प्रेरणा दी है। प्रकृति के मूलभूत नियमों की खोज, परामनोविज्ञान आदि धर्म और विज्ञान के मध्य सेतु बनने जा रहे हैं। इस बात के लक्षण दिखाई देने लगे है कि संपूर्ण मानवता की एक आत्मा की घोषणा करने वाला वैज्ञानिक धर्म भविष्य के गर्भ में विकसित हो रहा है। विभिन्न विशिष्ट विज्ञान भी परस्पर समन्वित होकर एक विज्ञान का रूप धारण करने की दिशा में बढ़ रहे हैं। आशा की जानी चाहिए कि ऐसा समन्वित विज्ञान स्वयं को तथा धर्म को एक ही वृहद् सत्य के दो परस्पर संबंधित पक्ष सिद्ध कर सकेगा। अविच्छिन्न रूप से जुड़े तथा एकदूसरे को पोषित करने वाले धर्म और विज्ञान की, अर्थात वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान की आज के विश्व में महती आवश्यकता है। इनके प्रादुर्भाव

और क्रियाशील होने के पश्चात् ही विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की कल्पनाएँ सार्थक हो सकेंगी।

अकेला विज्ञान उलझन बढ़ाएगा

पदार्थ का सूक्ष्मतम घटक जब परमाणु माना जाता था, वह बात बहुत पुरानी हो गई। परमाणु भी इलेक्ट्रॉन प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि अनेक घटकों में विभाजित हो गया और उसका स्थान एक संघ-संचालक भर का रह गया है।

विज्ञान क्रमशः आगे-ही-आगे बढ़ते-बढ़ते पदार्थ की मूल इकाई को तलाश करने की दिशा में पिछली शताब्दियों और दशाब्दियों की तुलना में बहुत प्रगति कर चुका है और अब बात चेतना के घटक समुदाय तक का स्पर्श करने लगी है। इन दिनों चेतना के मूल घटक के रूप में एक नए घटक को मान्यता मिली है। उसका नामकरण हुआ है—साइकोट्रॉन। इस नई खोज का स्वरूप जिस तरह सामने आया है उससे जड़-चेतन का मध्यवर्ती विवाद निकट भविष्य में नए करवट बदलता दिखाई पड़ता है। इसलिए उस परिशोध को असाधारण महत्त्व दिया गया है। उसकी खोज पर विज्ञान जगत का ध्यान नए सिरे से केंद्रीभूत हुआ है और उसकी शोध को एक अतिरिक्त प्रकरण की तरह मान्यता मिल रही है। इसकी शोधचर्या को साइकोट्रॉनिक विज्ञान नामक एक अतिरिक्त धारा ही मान लिया गया है।

इस अभिनव शोध धारा ने पदार्थ सत्ता और मनुष्य की अंतश्चेतना को पारस्परिक तारतम्य बैठाने वाला आधार ढूँढ़ निकाला है। चेतना-ऊर्जा और पदार्थ उर्जा में दिखाई देने वाली भिन्नता इस आधार पर अधिकतम निकट तो दीख ही रही है उसके अविच्छिन्न सिद्ध होने की भी संभावना है।

फोटोग्राफी में प्रायः उन्हीं पदार्थों के चित्र उतरते हैं, जो आँखों की सहायता से देखे जा सकते हैं। सूक्ष्मदर्शी और दूरदर्शी यंत्रों की

सहायता से जो देखा जा सके वह भी नेत्रों की परिधि में ही आया समझा जाना चाहिए। कैमरों का लेन्स प्रकारांतर से नेत्र की ही अनुकृति है। साइकोट्रॉनिक विज्ञान के अंतर्गत किर्लियन फोटोग्राफी के आधार पर अब भाव-संवेदनाओं के उतार-चढ़ावों को भी फोटो प्लटों पर कैद कर सकना संभव हो गया है। इस सफलता से यह निष्कर्ष निकलता है कि ताप, तरंग-ध्वनि-कंपनों और रेडियो विकरण की तरह इस अनंत ब्रह्मांड में भाव-संवेदनाएँ भी प्रवाहमान रहती हैं और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचकर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करती हैं। यदि लेसर आदि किरणें किसी अभीष्ट स्थान तक पहुँचाकर इच्छित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है तो अब यह मानने के पक्ष में भी आधार बन गया है कि विचारधाराएँ एवं भावनाएँ भी अमुक व्यक्ति को ही नहीं, अमुक पदार्थ को भी प्रभावित कर सकती हैं। बंदूक की गोली अंतरिक्ष में तैरती हुई निशान तक पहुँचती और प्रहार करती है। रेडियो, टेलीफोन भी व्यक्तिगत वार्त्तालाप की भूमिका बनाते हैं। भाव-संवेदना का पदार्थसत्ता के साथ तालमेल बैठा सकने वाला साईकोट्रॉनिक्स भी इस संभावना को प्रशस्त करता है कि भाव-संवेदनाएँ भी अब भौतिक पदार्थों को प्रभावित करने में समर्थ रह सकेंगी।

परंपरागत मान्यता में इतना तो जाना और माना जाता रहा है कि पदार्थ से चेतना प्रभावित होती है। सौंदर्य और कुरूपता से दृष्टि मार्ग द्वारा मस्तिष्क में उपयुक्त एवं अनुपयुक्त भाव-संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। अन्य इंद्रियाँ भी जो रसास्वादन करती हैं उनसे भी चेतना को प्रसन्नता, अप्रसन्नता होती है। त्वचा द्वारा ऋतु-प्रभाव की प्रतिक्रियाएँ अनुभव की जाती हैं और उनसे प्रिय, अप्रिय का भान होता है। चोट लगने आदि का, प्यास बुझाने जैसी पदार्थजन्य हलचलों का मनःसंस्थान पर प्रभाव पड़ता है। अब नए तथ्य सामने इस प्रकार आ रहे हैं, मानो चेतना में भी यह शक्ति विद्यमान है जिससे पदार्थों एवं प्राणियों के शरीरों को भी प्रभावित किया जा सकता है। इस

प्रकार के प्रमाण मिलते तो पहले से भी रहे हैं, किंतु उनके कारण न समझे जाने से किसी मान्यता पर पहुँच सकना संभव न हो सका।

अतींद्रिय क्षमता मनुष्य में विद्यमान है और वह कई बार ऐसी जानकारियाँ देती है, जो उपलब्ध इंद्रिय शक्ति को देखते हुए असंभव लगती है। ऐसी घटनाओं को या तो छल, भ्रम आदि कहकर झुठला दिया जाता है या फिर दैवी चमत्कार का नाम देकर किसी अविज्ञात एवं अनिश्चितता के गर्त में धकेलकर पीछा छुड़ा लिया जाता है। पैरासाइकालॉजी-मेटाफिजिक्स के आधार पर जो शोधें हुईं हैं, उनसे इतना ही जाना जा सकता है कि जो भी चमत्कारी अनुभव और घटनाक्रम होते हैं, वे प्रपंच नहीं, तथ्य हैं। इतने पर भी यह नहीं जाना जा सकता कि भौतिकी के किन नियमों के आधार पर ऐसा हो सकने की बात सिद्ध की जा सकती है। अतींद्रिय क्षमता को मान्यता तो मिले, पर उसके कारणों का पता न चल सके तो वस्तुतः यह एक बड़े असमंजस की बात है। अब तक स्थिति ऐसी ही रही है।

चमत्कारी सिद्धियों और शक्तियों से यही प्रामाणित होता है कि वे प्रभावित कर सकने में समर्थ हैं। मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म के आविष्कार ने इस दिशा में एक और प्रमाण मूलक तथ्य सामने रखा था, फिर भी बात अधूरी ही रही। प्राण ऊर्जा को मान्यता देने के लिए तथ्य तो विवश करते थे, पर साहसिक प्रतिपादन कैसे संभव हो? विज्ञान की किस शाखा के आधार पर इसका सुनिश्चित समर्थन किया जाए? अटकलें तो लगती रहीं और कुछ संगति बैठाने के लिए तर्क और प्रमाण भी प्रस्तुत किए जाते रहे, पर वह सब रहा संदिग्ध ही, जब तक कुछ प्राणाणिक तथ्य सामने न आएँ तो उसे निश्चित कहने का साहस किए आधार पर किया जाए?

साइकोट्रॉनिक्स ने इस असमंजस को किसी निष्कर्ष तक पहुँचाने की आधारशिला रख दी है और उस सिद्धांत को उजागर किया है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि चेतना और पदार्थ के बीच

तालमेल बैठाने वाले कोई सुनिश्चित सूत्र विद्यमान हैं। वे दोनों परस्पर गुँथे हुए ही नहीं हैं, वरन् एक ही सत्ता के दो रूप हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष की संज्ञा दी जा सकती है। इस विज्ञान के अंतर्गत चेतना की एक अति प्रभावशाली क्षमता-'साइकोकायनेसिस' दूरस्थ व्यक्ति के प्रति आदेश प्रेषण क्षमता को तथ्य रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

साइकोट्रॉनिक विज्ञान के मूर्द्धन्य शोधकर्ता डॉ० राबर्ट स्टोन का प्रतिवेदन है कि जड़ और चेतन के विवाद को सुलझाने के लिए अब तक जो प्रयत्न चलते रहे हैं, उसे देर तक अनिश्चित स्थिति में न पड़ा रहने देने की चुनौती स्वीकार कर ली गई है और अपनी पीढ़ी के ही शोधकर्ता किसी निश्चित स्थिति तक पहुँच जाने योग्य आधार प्राप्त कर चुके हैं। विज्ञान की पिछली पीढ़ी के कुलपति आइन्स्टाइन के नेतृत्व में स्पेस-टाइम-युनिवर्स के सिद्धांत ने काफी प्रगति की थी, उससे ब्रह्मांड की मूल स्थिति को समझ सकने के लिए आशाजनक पृष्ठभूमि बनी थी। अब साइकोट्रॉनिक्स ने और बड़ा प्रकाश प्राप्त किया है। गुत्थी को अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह सुलझाने में उससे भारी सहायता मिलेगी।

टोकियो के अंतर-राष्ट्रीय वैज्ञानिक कॉन्फ्रेन्स के अधिवेशन में भी यह प्रसंग प्रधान रूप से चर्चा का विषय रहा। 'स्टेनफोर्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' ने तो अपने कंधे पर उस धारा के संबंध में अधिक विस्तारपूर्वक उच्चस्तरीय शोध करने के लिए मूल्यवान साधन भी जुटा लिए हैं।

चंद्रमा के धरातल पर उतरने वाले ११वें वैज्ञानिक एवं नोयटिक साइंस इन्स्टीट्यूट के संस्थापक एडगर मिचेल ने अपनी चंद्र-यात्रा से लौटने के उपरांत यह मानना और कहना जोरों से शुरू कर दिया कि ब्रह्मांड की संरचना जिन पदार्थों से हुई है, वे किसी चेतना-प्रवाह के उद्गम से आविर्भूत हुए हैं। भौतिक नहीं है। पदार्थ को जिन प्रतिबंधों में बँधकर परिपूर्ण अनुशासन में

रहना पड़ रहा है, वह संयोग मात्र नहीं, वरन् किसी महती विश्व-व्यवस्था का अंग है।

इस दिशा में मनोविज्ञानी डॉ० कार्ल सिमंटन ने एक साधन संपन्न अस्पताल की स्थापना की है, जिसमें चिकित्सा का जो नया आधार खड़ा किया है, उसमें साइकोट्रानिक्स के सिद्धांतों को ही क्रियान्वित किया गया है। यह प्रचलित मानसिक चिकित्सा से भिन्न है। इन दिनों मानसोपचार में सजेशनों को ही आधारभूत माना जाता है। स्व-संकेत, पर-संकेत की जो प्रक्रिया पिछले दिनों हिप्नोटिज्म प्रतिपादनों के सहारे चलती रही है, इस नए प्रयोग में उससे बहुत आगे की बात है। उसमें विचार-संप्रेषण को एक शक्ति एवं ओषधि के रूप में रोगी के शरीर और मस्तिष्क में प्रवेश कराया जाता है। परिणामों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा रहा है कि विचार-संप्रेषण पद्धति प्रचलित अन्य चिकित्सापद्धतियों की तुलना में किसी दृष्टि से पीछे नहीं है। उसके उत्साहवर्द्धक परिणामों का अनुपात अन्य उपचारों की सफलता के समतुल्य नहीं वरन् अग्रगामी है।

इस क्षेत्र में अधिक तत्परतापूर्वक शोध-प्रयत्नों में लगे हुए डॉ० स्टोन ने मस्तिष्क विधा के परीक्षण निष्कर्षों का प्रतिफल यह बताया है कि मानवीय मस्तिष्क का बाँया भाग तो उसकी निजी आवश्यकताएँ जुटाने में लगा रहता है और दाहिना भाग इस सुविस्तृत ब्रह्मांड के साथ अपना तालमेल बैठाता और आदान-प्रदान बनाता रहता है। वह संपर्क एवं वातावरण से प्रभावित होता भी है और उसे प्रभावित करता भी है। सामान्यतः यह प्रक्रिया उतनी ही छोटी परिधि में चलती है, जिसमें छोटे-से-छोटा व्यक्तित्व अपनी सीमित इच्छाओं के अनुरूप सुविधा और सुरक्षा पाने में किसी कदर समर्थ होता रह सके, किंतु इस परिधि का विकास होना संभव है। इस बात की पूरी संभावना है कि व्यक्ति की चेतना यदि अपने को अधिक समुन्नत स्थिति तक विकसित कर सके तो वातावरण से

प्रभावित होने और प्रभावित करने से जो लाभ उठाया जा सकता है उसे उठा सके। स्टोन के कथनानुसार कला, संस्कृति, दर्शन तथा संवेदनाओं का बहुत कुछ आधार मस्तिष्क के इस दाहिने भाग पर ही निर्भर रहता है।

अतींद्रिय क्षमता का परिचय देने वालों के मस्तिष्क का यह दाहिना भाग 'सेरब्रम' अधिक सक्षम, परिपुष्ट पाया गया है। रहस्यों को जानने और अद्‌भुत कार्य करने की चमत्कारी विशेषताएँ विकसित करने का श्रेय इसी भाग को है। इस क्षेत्र की क्षमताएँ भौतिक-क्षेत्र से विकसित होने पर व्यापक पदार्थ-संपदा के साथ अपनी घनिष्ठता स्थापित कर सकती हैं और ज्ञान एवं कर्म का क्षेत्र सीमित न होकर असीम बन सकता है। ऐसे ही आंतरिक क्षमता संपन्नों को देव मानवों की संज्ञा एवं श्रद्धा प्रदान की जाती रही है।

न्यूरो साइंटिस्ट डॉ० कार्लप्रिब्रम और फिजिसिस्ट प्रो० डेविड ब्रोहम ने व्यक्ति और ब्रह्मांड के गहन रहस्यों की झाँकी की है। उसे वे एक अद्‌भुत सत्य का अनिर्वचनीय आभास बताते हैं। दोनों के कथन मिलते-जुलते हैं, वे कहते हैं कि मानवीय मस्तिष्क, इस निखिल ब्रह्मांड का लघु-अणु रूप है, इसके प्रसुप्त संस्थानों को मेडीटेशन-ध्यान, जैसे उपचारों से जाग्रत् बनाया जा सकता है। अपने ही संकल्प बल से इस क्षेत्र में 'साइकोट्रॉनिक लेसर बीम' तैयार की जा सकती है। उसका मेट्रिक्स के अभेद्य समझे जाने वाले क्षेत्र में प्रवेश हो सकता है और ऐसा कुछ प्राप्त करने का अवसर मिल सकता है, जो मनुष्य की वर्तमान क्षमता को असंख्य गुना अधिक समुन्नत बना दे।

औसत व्यक्ति की भौतिक संपन्नता की तरह आंतरिक क्षमता भी सीमित है, किंतु यह सीमा बंधन अकाट्य नहीं है। व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक अपने को क्रमशः ससीम से असीम बनने की दिशा में निरंतर प्रयत्न करता रह सकता है। यह विशालता विश्वसत्ता और

आत्मसत्ता के अंतर को समाप्त करती है और सबको अपने में तथा अपने को सबमें देखने का अवसर मात्र भाव-संवेदना की दृष्टि से ही नहीं, तथ्यों के आधार पर भी उपलब्ध हो सकता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन-नर की नारायण रूप में परिणति,जैसे अध्यात्म लक्ष्यों के साथ विकासोन्मुख आत्मसत्ता की संगति पूरी तरह बैठ जाती है।

जीवनीशक्ति, चेतनसत्ता एवं पदार्थ ऊर्जा के क्षेत्र पिछले दिनों एक सीमा तक ही पारस्परिक घनिष्ठता स्थापित कर सके हैं, पर अब यह संभावना प्रशस्त हो रही है कि तीनों को परस्पर पूरक और सुसंबद्ध मानकर चला जाए और एक की उपलब्धि से अन्य दो धाराओं को अधिक सक्षम बनाकर अभाव ग्रस्तताओं से उबरा जाए। अगले कदम इस स्थिति का भी रहस्योद्घाटन कर सकते हैं कि चेतना सागर के अतिरिक्त इस विश्वब्रह्मांड में और कुछ है ही नहीं। प्राणियों के स्वतंत्र अस्तित्वों का दृश्यमान स्वरूप उसी स्तर का है जैसा कि समुद्र की सतह पर उतरने वाली लहरों का होता है। उनकी दृश्यमान पृथकता अवास्तविक और मध्यवर्ती एकता वास्तविक होती है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर वेदांत और विज्ञान दोनों एक हो जाते हैं। तत्त्वदर्शन और पदार्थ विज्ञान को एकीभूत करने के लिए नई शोध धारा साइकोट्रॉनिक्स के रूप में सामने आई है। उसका अभिनव प्रतिपादन, विश्लेषण, प्रयोग और निष्कर्ष-सापेक्षवाद की तरह ही जटिल है। उन्हें ठीक तरह समझ सकना इन दिनों कठिन प्रतीत हो सकता है, पर इन संभावनाओं का द्वार निश्चित रूप से खुला है कि चेतना को विश्व की मूलभूत शक्ति मानने का सिद्धांत सर्वमान्य बन सके। ऐसा हो सका तो भौतिकी को जो श्रेय इन दिनों प्राप्त है, उससे कम नहीं वरन् अधिक ही आत्मिकी को प्राप्त होगा।

विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय निश्चित

विज्ञान में प्रौढ़ता और परिपक्वता आई है। अस्तु, शोधों ने नए आधार दिए हैं। अब ईश्वर को न मानने का आग्रह पुराने जमाने की बात हो गई, नवीनतम समस्या यह है कि कहीं पदार्थ की सत्ता ही तो समाप्त होने नहीं जा रही है। विज्ञान पदार्थ के गुण और स्वरूप का निर्धारण करता है, पर जब पदार्थ सत्ता का ही लोप हो जाएगा तो फिर विज्ञान का अस्तित्व किस पर निर्भर रहेगा? मूर्द्धन्य वैज्ञानिक आज सोच रहे हैं कि भौतिकी का सारा ढाँचा जो आँखों के सामने खड़ा है, कहीं जादुई महल तो नहीं है।

आधुनिक भौतिकी के अनुसंधानों ने अध्यात्म की उन अनंत संभावनाओं के समर्थन की ही दिशा प्रशस्त की है, जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं के पूर्वार्द्ध तक स्वप्निल कुहेलिका मात्र माना जाता था। 'पदार्थ' की सत्ता की खोज ने 'परमाणु' तक पहुँचाया और परमाणु की खोज में बढ़ते-बढ़ते यह तथ्य प्रकाश में आया कि ये विद्युत-तरंगों के संघात मात्र ही हैं और अब, अधुनातन अनुसंधानों द्वारा यही स्पष्ट होता है कि ये विद्युत तरंगें भी अज्ञात तरंग समूहों का ही एक अंश मात्र हैं। इस तरह भौतिकी आज अज्ञात, अनंत तरंग-संघातों के तथ्य तक पहुँचकर अद्वैत वेदांत की स्थापनाओं के अति निकट आ गई है। आधुनिक भौतिकीविद् इस स्थान पर आकर विस्मय और रहस्य से भर उठे हैं तथा उसमें जिज्ञासा और अन्वेषण का संकल्प और अधिक प्रखर हो गया है, क्योंकि वे स्पष्ट देख रहे हैं कि पदार्थ की मूलसत्ता के अन्वेषण-क्रम में जिन अज्ञात तरंग संघातों की जानकारी तक वे आ पहुँचे हैं, वे तरंगें भी अपने मूलरूप में क्या हैं? यह जान

सकना बहुत ही कठिन हो गया है, क्योंकि ये तरंग-समूह वस्तुतः मूलसत्ता नहीं कही जा सकतीं, अपितु इलेक्ट्रॉनिक कार्यविधि की हमारी जो जानकारी है, उसी की मानो यह मानसिक संरचना है।

इस तरह वस्तुपरक विश्व तो मनस और आत्मा के क्षेत्र में समाहित एवं विलुप्त होता जा रहा है। आज यदि भौतिकीविद् से पूछा जाए कि यह जगत क्या है? तो वह यही उत्तर देगा कि अब तक ऊर्जा और 'इलेक्ट्रॉनिक क्रियाविधि' की जो भी जानकारी प्राप्त कर सके हैं, उसी की कल्पना-सीमा में बाँधने पर हम भले ही विश्व की मूलसत्ता को कुछ तरंग-समूहों का नाम दे दें, पर सच बात तो यह है कि यह दुनिया ऐसी अज्ञात और अकथनीय तरंगों का संघात मात्र है, जिनके बारे में हम जो कुछ भी जानते हैं, वही कह सकते हैं, पर इस निवेदन के साथ कि मूलस्वरूप उसका क्या है? यह हमें स्वयं ज्ञात नहीं। अर्थात 'कहत कठिन समुझत कठिन।'

इस प्रकार विज्ञान भी आज अध्यात्म की ही तरह विनम्र है और अपनी सीमाओं की घोषणा कर रहा है। बालबुद्धि का शोर अब थम गया है। यों विज्ञान दुराग्रही कभी भी नहीं रहा। उसकी नास्तिकता अपनी स्थिति का विवरण-प्रतिवेदन मात्र थी, कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं, उसने सृष्टि की चैतन्यसत्ता के अस्तित्व की संभावना को अस्वीकार कभी भी नहीं किया था। वह तो अपने प्रतिपाद्य विषय के निष्कर्षों को प्रस्तुत कर देता रहा है। उसका प्रतिपाद्य विषय इंद्रिय बोध के आधार पर सूक्ष्मदर्शी उपकरणों की सहायता से वस्तुसत्ता का विश्लेषण-विवेचन और निष्कर्ष-संग्रह रहा है। इस प्रक्रिया में वह 'मैटर' को ही अपना अनुशासन-क्षेत्र बनाए रहा है। 'मैटर' की मूलभूत सत्ता का विवेचन वह निष्ठा और श्रम के साथ करता रहा है। किंतु अब अब इस 'मैटर' की मूलभूत सत्ता ही संदिग्ध और अनिश्चित हो गई है।

भौतिकी वैज्ञानिकों की मान्यता है कि शीशे और काँसे से अधिक भारी परमाणु स्थायी नहीं है। वे टूट जाते हैं। रेडियो-सक्रिय द्रव्य से जब विकिरण निष्क्रमणित हो जाता है तो उनकी रेडियो

सक्रियता की शक्ति में कुछ कमी पाई जाती है। यह क्षरण की प्रक्रिया है। इस प्रकार एक परमाणु विसंगठित तथा विसर्जित हो सकता है। परमाणु संपूर्णत: स्थायी वस्तु नहीं है, इसके विपरीत वे परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न होते तथा नष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार 'मैटर' की कोई मूलभूत सत्ता इस रूप में नहीं है, उसका भी जन्म-मरण होता रहता है। द्रव्य की सक्रियता का अर्थ है— क्रमश: क्षीण होते जाना और अंत में समाप्त हो जाना। इसलिए वैज्ञानिक अब यह मानते हैं कि द्रव्यमय जगत का ह्रास एवं विनाश अनिवार्य है। भौतिकीविदों ने खोज की है कि प्रकृति के क्रियाकलापों में प्रत्येक अपव्यय का लेखा-जोखा रहता है। इस प्रकार संतुलन क्रमश: कम हो रहा है। एक दिन यह पूरी तरह गड़बड़ा जाएगा और सृष्टि का वर्तमान स्वरूप विघटित हो जाएगा।

एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह संसार रूप, रंग, ध्वनि, ताप आदि का समन्वित स्वरूप है, किंतु एक आधुनिक वैज्ञानिक की दृष्टि में यह सृष्टि रंग रहित, गंध रहित, ध्वनि रहित है। उनकी दृष्टि-प्रकृति में वस्तुत: द्रव्य है ही नहीं। वह सिर्फ दिक्काल का और विद्युत-प्रवाहों का ऐसा विस्तार है, जिन्हें संभावनाओं की अज्ञात तरंगों के द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है, अर्थात ऐसी तरंगों का खेल है यह संसार, जिसमें अनंत संभावनाएँ विद्यमान हैं और जिनका मूलस्वरूप अज्ञात है। यह ठोस दिखने वाला विश्व जब भली भाँति विश्लेषित किया जाता है तो एक ऐसे रहस्यमय परिमाण (क्वान्टिटी) का रूप ले लेता है, जिसका वर्णन असंभव है,कुछ गणितीय प्रतीकों द्वारा जिसका संकेत मात्र किया जा सकता है। इस प्रकार इस भौतिकी विश्व का पूरा ढाँचा, नाना रूपों, नाना वेशों वाले नक्षत्र-मालाओं, पर्वतशृंखलाओं, नर-नारियों, पशु-पक्षियों, प्राणियों और वस्तुओं से भरपूर, ध्वनियों और रंगों, ताप और गंधों से भरपूर, यह पूरे का-पूरा ढाँचा अंतिम वैज्ञानिक विश्लेषण में मात्र विद्युत-प्रवाहों अथवा असीम शून्य आकाश यानी अनंत संभावनाओं से भरी तरंगों का समुच्चय मात्र रह जाता है।'मैटर' रह ही नहीं जाता। ठोस

दीखने वाला यह संसार वाष्प की तरह उड़कर अदृश्य हो जाता है और वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, बहुत्व की ओर बढ़ता-सा दीख रहा, विभिन्न रूपों तथा नामों में अभिव्यक्त हो रहा यह ब्रह्मांड एक ही अतिसूक्ष्म मूलसत्ता में, शक्ति के उस मूलरूप में समाहित हो जाता है, जहाँ से कि उसका उद्‌गम होता है।

'दि यूनीवर्स एंड डॉ० आइन्स्टाइन' के लेखक बर्टन लिखते हैं—"जिसे वैज्ञानिक तथा दार्शनिक आभासमय जगत कहते हैं, वह संसार है, जो कि मरणधर्मा मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुरूप अनुभव करता है। जिसे वैज्ञानिक और दार्शनिक यथार्थ जगत कहते हैं—वह रंग रहित, ध्वनि रहित, अव्याख्येय 'कॉस्मॉस' है। मनुष्य के प्रक्षेपण के तल में यथार्थ जगत प्रतीकों का एक कंकाल-ढाँचा मात्र है।"

'गाइड टू फिलासफी' नामक पुस्तक में श्री जोड ने भी ऐसा ही कुछ कहा है—"मैटर दिक् तथा काल में विस्तृत एक रस्सी की ऐंठन की तरह है। यह एक इलेक्ट्रॉनी कुकुरमुत्ता है। अनंत संभावनाओं की एक ऐसी तरंग है, जो कुछ नहीं जैसा है। ऐसी विद्युतधाराओं का समूह है, जो किसी भी वस्तु में प्रवाहित नहीं होती। दिक्काल में घट रही घटनाओं की एक व्यवस्था है, जिसकी विशेषताएँ मात्र गणितीय ढंग से संकेतित की जा सकती हैं।"

एडिंगटन महाशय भी कहते हैं—'मैटर' का सारभूत अंश पिघलकर छायावत् बन गया है। बह गया है, वह एक अज्ञात परिमाण मात्र रह गया है, जिसके लिए गणितीय संकेत 'क्ष' का प्रयोग किया जा सकता है।

तब क्या आकर्षक रंगों की, सम्मोहक सौंदर्य की, चित्ताकर्षक ध्वनियों और लुभावने संगीत की, पृथ्वी पर फैलने वाले प्रकाश की, जीवन उत्पन्न करने वाली ऊष्मा की कोई सत्ता नहीं है? आधुनिक वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, उनका कोई यथार्थस्वरूप नहीं है। वे तरंगों और गतियों के विभिन्न समूह मात्र हैं। ऊष्मा क्या है? अणुओं का कंपन मात्र। ध्वनि क्या है? वातावरण की तंरगों का संघात और प्रकाश तथा वर्ण!

'इलेक्ट्रोमेग्नेटिक स्पेक्ट्रम' में विभिन्न 'फ्रीक्वेंसीज' की बेवलेंग्थ के अलग-अलग 'सेट' मात्र हैं। प्रत्येक रंग प्रकाश खंड में कुछ निश्चित 'फ्रीक्वेंसीज' तथा 'वेवलेंग्थ' की तरंगों का परिणाम है। वस्तुत: हैं मात्र ये तरंगें। जो रंग हम देखते है, वह हमारा 'आत्मपरक सृजन' है। एडिंगटन कहते हैं—"तरंग है यथार्थ और रंग जो हम देखते हैं, हमारी दिमागी बनावट है।" इस प्रकार जिसे हम वस्तु सत्य कहते हैं, वह असल में हमारा ही 'आत्मपरक सृजन' है। इस प्रकार विज्ञान अध्यात्म के ही निष्कर्षों तक आ पहुँचा। दोनों की आधार भूमि एक हो चली।

भारतीय मनीषी सृष्टि के इस स्वरूप से हजारों वर्ष पूर्व से परिचित रहें हैं। वेदांत की सृष्टि-व्याख्याएँ आज भौतिकी के अनुसंधानों द्वारा भी प्रमाणित-पुष्ट हो रही हैं।

अगले दिनों विज्ञान के बढ़ते चरण निश्चित रूप से उस स्थान पर पहुँचेंगे, जहाँ प्रकृति और पुरुष का मिलन होता है। जड़-पदार्थ और चेतन जीवन में बहुत समय से अंतर माना जाता रहा है। अब बात आगे बढ़ रही है और एक चेतना का अस्तित्व ही उसी रूह में आ रहा हैं जिसमें पदार्थ का भी सम्मिश्रण है। इसे जीवन कह सकते हैं और जीवन ही निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त है।

अध्यात्म और विज्ञान को पिछले दिनों परस्पर विरोधी माना जाता रहा है। नवीनतम शोधें उन्हें पूरक ही नहीं, एकीभूत भी सिद्ध कर रही हैं। ऐसी दशा में यह आशा की जा सकती है कि वेदांत के उस तत्त्वदर्शन का विज्ञान द्वारा भी प्रतिपादन होगा, जिसमें अद्वैत की सर्वव्यापी सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

चेतना के क्षेत्र में वैज्ञानिक चिंतन का योग अगले दिनों शोध के नए आधार प्रस्तुत करेगा। यह विश्वास किया जाना चाहिए, विज्ञान के बढ़ते हुए चरण पदार्थ की मूलसत्ता की नवीन व्याख्या करेंगे, जिसका प्रतिपादन भारतीय दर्शन सदा से करता चला आ रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब वैज्ञानिक जगत से यह आवाज मुखरित हो उठे—**'सर्व खल्विदं ब्रह्म'** सर्वत्र एक चेतना समाई हुई है।

संवेदना की समस्या कौन सुलझाएगा ?

आत्मा है या नहीं ? इसका उत्तर हाँ और ना में दोनों ही तरह दिया जा सकता है। 'हाँ' उनके लिए है जो ज्ञान के आधार पर सूक्ष्म विषयों पर विचार कर सकने और निष्कर्ष निकाल सकने में समर्थ हैं। 'ना' उनके लिए जो मात्र इंद्रियों के सहारे ही चेतनसत्ता का दर्शन करना चाहते हैं। चेतन सूक्ष्म है, वह चेतनसत्ता की ज्ञानाभूति द्वारा समझा और देखा जा सकता है। किसी की आँखों में से आँसू बहते देखकर आँखें तो इतना ही बता सकती हैं कि भौंहों के नीचे वाले गड्ढों में से पानी की पतली-सी धार बह रही है। उस पानी के पीछे कोई व्यथा चेतना तो नहीं भरी है, यह जान सकना जीवित अंत:करण की भाव-संवेदना के लिए ही संभव है। यदि वह न हो तो फिर आँसू और पसीने में वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे कुछ अधिक अंतर नहीं पाया जा सकता। सूर्य की रोशनी और फूल की शोभा की अनुभूति उन्हीं को हो सकती हैं जिनकी आँखें हों। यदि दृष्टि समाप्त हो जाए तो अपने लिए संसार के सभी दृश्य समाप्त हो जाएँगे। भले ही वे अन्य लोगों के लिए यथावत् बने रहें। दृश्यों की अनुभूति में जितना महत्त्व पदार्थों के अस्तित्व का है, उससे अधिक अपनी दृष्टि का है। यह ज्ञान ही है जो हमें दृश्य या श्रव्य के स्थूल रूप की तुलना में असंख्य गुने रहस्यमय मर्मों से परिचित करता है।

ज्ञान के दो पक्ष हैं—एक विचारणा, दूसरा संवेदना। विचार मस्तिष्क की देन हैं, वे बाहर से होते हैं, प्रशिक्षण एवं अनुभव के सहारे। भाव भीतर से उठते हैं, वे अत:करण के उत्पादन हैं। विचारों से जानकारी तो बढ़ती है और बुद्धि में परिपक्वता आती है, पर उनका प्रभाव अंतस् पर नहीं के बराबर पड़ता है। बहुत पढ़ने और बहुत सुनने से भी आंतरिक उत्कृष्टता उभरने का कोई निश्चय नहीं। कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके कान सत्संग सुनते-सुनते पक गए और आँखें स्वाध्याय करते-करते थक गईं। फिर भी उनकी मूलप्रवृतियों में कुछ विशेष अंतर नहीं आया। लोभ, मोह से उन्हें

रत्ती भर भी विरति नहीं हुई। काम-क्रोध के आवेश घटे नहीं। धर्मोपदेशकों में धर्मधारणा और नेताओं में देशभक्ति प्राय: प्रसंग चर्चा की कलाकारिता जितनी ही दिखाई पड़ती है। दूसरों को जिन तर्कों से वे प्रभावित कर लेते हैं, उससे अपने आप को प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि वे बाहर से आए आगंतुक हैं। अपने गृह सदस्य नहीं। अंतस् तो भावों का भंडारगार है। वहाँ से निस्सृत होते हैं और वहीं के चुंबकत्व से उन्हें बाह्य जगत में से आकर्षित एवं ग्रहण किया जाता है। विचार की गति, तर्क और तथ्य के सहारे होती है और वे बढ़ते-बढ़ते विज्ञान का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विचार के आधार पर यह संसार—पदार्थ गुच्छक या गुलदस्ता मात्र है। अथवा विभिन्न प्रकार की तरंग-प्रवाह का अंधड़-क्षेत्र उसे कह सकते हैं। विद्युत चुंबकीय लहरों से भरा-पूरा समुद्र भर यह संसार रह जाता है। ऐसे ही कुछ नाम और भी उसे दिए जा सकते है। मस्तिष्कीय चेतना-पदार्थ ज्ञान पर अवलंबित है और वह अपनी सीमा उसी परिधि के अंतर्गत रखती है। यही उसकी मर्यादा है। उससे आगे की ऐसी कोई बात मस्तिष्क के आधार पर नहीं जानी या पाई जा सकती, जो हृदय से, अंतस् से संबंधित है।

भाव-संवेदना, अंतस् का उत्पादन है। भावुक व्यक्ति ही दूसरों की व्यथा-वेदनाओं का अनुभव कर सकता है। पाषाणहृदय व्यक्ति पर किसी की वेदनाओं का, करुणाजनक स्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, पर दूसरों के रुदन और चीत्कार तक को स्थितप्रज्ञ की तरह निर्मम होकर देखता रहता है। कई बार तो उनसे विनोद करता और रस लेता भी देखा गया है।

धर्म को संवेदना का उद्गमस्रोत कह सकते हैं। वह उपदेश नहीं उपचार है, जिसके सहारे दिव्य चक्षुओं पर चढ़ी हुी धुंध को दूर किया जा सकता है। उस धुंध के हटने पर पदार्थ के अंतराल में संव्याप्त सत्ता को देखा जाता है। उसी के सहारे उस ब्रह्मांडव्यापी चेतना की अनुभूति होती है, जिसे विश्वात्मा कहा जाता है और जिसका घटक आत्मा है। विचार से पदार्थ के गुण-धर्म—स्वभाव

और उपयोग को जाना जाता है, धर्म से आत्मा का साक्षात्कार होता है और जीवन को आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए प्रशिक्षित अभ्यस्त किया जाता है।

यों ज्ञान की मोटी परिभाषा जानकारी है। शिक्षा द्वारा उसी का संचय-संवर्धन होता है। मन की कल्पनाशक्ति और बुद्धि की निर्णय-शक्ति के संयुक्त परिणाम को बुद्धि-कौशल कहते है। सूझ-बूझ, विद्वत्ता और विशेषज्ञता इसी की परिणति है। इतने पर भी संवेदना पर इस सारी बुद्धिमत्ता का कोई असर नहीं है। धर्म अग्नि है जिसका उद्‌गम आत्मा है। आत्मा के अंतराल से जो ज्योति प्रस्फुटित होती है, जिसका आलोक अंत:ज्ञान के रूप में देखा जा सकता है, आत्मबोध यही है। इसी का प्रकट होना और आत्मसत्ता के समुचे क्षेत्र को प्रकाशवान कर देना यही आत्मसाक्षात्कार है। विचार-क्षेत्र शिक्षा कहलाता है। अंत:संवेदनाओं के ऊहापोह को विद्या एवं ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह इंद्रियातीत है, इसलिए उसकी अनुभूतियाँ भी अतींद्रिय कहलाती हैं। दया, करुणा, प्रेम, सेवा, उदारता, त्याग, बलिदान, संयम, आत्मानुशासन जैसी दिव्य संवेदनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य खुशी-खुशी कष्ट सहते हैं। अपने लाभों का परित्याग करते हैं और भौतिक दृष्टि से प्रत्यक्षत: घाटा उठाते हैं। आदर्शवादियों के निहित स्वार्थों द्वारा तरह-तरह की हानि पहुँचाई जाती है, उदार व्यवहार में भी वे कुछ त्याग ही करते हैं। देशभक्तों और तपस्वियों को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है और कई बार तो उन्हें प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। बुद्धिमानी का भौतिक मापदंड इनमें घाटा-ही-घाटा देखता है। प्रत्यक्ष लाभ जैसी कोई बात इस मार्ग पर चलने से नहीं मिलती। फिर भी समझदारी की सीमाओं का उल्लंघन करके कदम उठाए जाते हैं, जिसे व्यवहार-बुद्धि अपने भौतिकवादी गणित के सहारे मूर्खता ही सिद्ध करेगी। इतने पर भी सारे तर्कों का उल्लंघन करके कोई आंतरिक उमंग ऐसी उठती है और उच्चस्तरीय भाव-संवेदना की भूख बुझाने के लिए त्याग, बलिदान की माँग करती है और अनेकों सद्‌भाव संपन्न उसकी पूर्ति भी करते हैं।

यह संवेदना ही अग्नि है। जब वह आदर्शों के अपनाए रहने की परिपक्वावस्था में होती है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। अपने लिए कल्याणकारी कर्तव्य यही है। इसका सुनिश्चित निर्धारण विश्वास कहलाता है। श्रद्धा को भवानी की और विश्वास को शंकर की उपमा दी गई है और कहा गया है कि इन्हीं दोनों की सहायता से अंतरात्मा में ओत-प्रोत परमात्मा का दिव्य दर्शन होता है। आदर्शवादी संवेदनाओं की यह समूची परिधि धर्मक्षेत्र के नाम से जानी जाती है। इसी की उमंगें कर्मक्षेत्र पर छाई रहती हैं। आस्थाओं की प्रेरणा से विचारतंत्र को दिशा मिलती है और विचारों की कर्म के रूप परिणति होती है। इसी क्षेत्र में जब प्रखरता आती है तो अतींद्रिय ज्ञान जाग्रत् होता है और दूरदर्शन, दूर श्रवण, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन, भावी संभावनाएँ जैसी वे जानकारियाँ मिलती हैं, जो सामान्य इंद्रिय क्षमता की पकड़ से बाहर हैं।

अंत: संस्थान के शांत, सुस्थिर एवं परिष्कृत करने की विधि-व्यवस्था का नाम योग है। योगाभ्यास में जिस समाधि की चर्चा की जाती है, वह मस्तिष्क की घुड़दौड़ शांत करके अंत:करण की भाव-संवेदनाओं को उभारने की प्रक्रिया है। चित्तवृत्तियों का निरोध इसी को कहा गया है। यह स्थिति प्राप्त होने पर अपने अस्तित्व में आत्मा की उपस्थिति अनुभव होती है और उसके अनुशासन को स्वीकार करने की सहज स्वीकृति जाग्रत् होती है। आत्मसमर्पण के क्षण इन्हीं भावनाओं से भरे होते हैं। दिव्यत्व में अंत:करण का सराबोर हो जाना इतना आनंदयुक्त होता है कि उसे ईश्वर दर्शन के संबंध में किए गए समस्त वर्णन यथार्थता के रूप में अनुभव होते हैं।

धर्म को भीरुता से जोड़ा जाता है। जीवन संघर्ष से कतराने वाले धर्माडंबरों में उलझे रहते हैं। यह कहा जाता है, पर वस्तुत: बात ऐसी है नहीं। यह साहसी-शूरवीरों का मार्ग है। मन और अंत:करण का संघर्ष स्पष्ट है। मन सुविधाओं में रमता है और अंत:करण को वे भाव-संवेदनाएँ चाहिए, जो उत्कृष्टता अपनाने के मूल्य पर ही उपलब्ध होती हैं। लोक-प्रवाह और अपने संचित संस्कार मनोकामनाओं की

पूर्ति की दिशा में खींचते और मनमानी करने के लिए उकसाते हैं इसके ठीक विपरीत वह क्षेत्र है, जिसे आत्मा की पुकार कहते हैं। यहाँ सब कुछ दूसरे ही तरह का है। यहाँ वैभव बेचकर संतोष खरीदा जाता है। इतना बड़ा सौदा करना जुआरी द्वारा अपना सर्वस्व बाजी पर लगा देने जैसा है, जिसमें प्रत्यक्षतः घाटा-ही-घाटा है। ऐसा बड़ा कदम उठाना सती-शूरमाओं जैसा दुस्साहस है, जिसमें प्रत्यक्ष का उत्सर्ग करके परोक्ष के उपलब्ध होने का सुनिश्चित विश्वास आवेश की तरह अंतराल के कण-कण में छाया होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने में केवल साहसी शूरवीर ही सफल होते हैं। भावनाओं के परिपोषण में कामनाओं की बलि चढ़ा देना जिनसे बन पड़ता है, वस्तुतः वे ही धर्मात्मा हैं। कहा जाता है कि धार्मिकता स्वर्ग के लालचियों और नरक से भयभीत लोगों को छिपाए रहने वाली माँद भर है, पर बात ऐसी है नहीं। कुछ उथले धर्माडंबरियों या धर्म-भीरुओं के लिए यह बात भले ही लागू होती हो, पर वस्तुतः धर्म एक सत्साहस और प्रबल पुरुषार्थ है, जिसमें अंतरात्मा को सर्वोपरि माना जाता है और उत्कृष्टता भरी भाव-संवेदनाओं के समर्थन की सुख-सुविधाओं से लेकर स्वजनों को पुष्ट करने तक का ऐसा साहस प्रदर्शित किया जाता है, जिसे आलौकिक एवं असाधारण कहा जा सके।

धर्म ही मानवीय जीवन को संस्कारित करेगा

हरबर्ट स्पेन्सर कहते हैं— "विज्ञान और दर्शन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। विज्ञान मात्र प्रकृति के कुछ रहस्यों पर से परदा उठाता है, किंतु दर्शन विश्वचेतना के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालता है, बताता है कि चिंतन की धाराएँ किस प्रकार परिष्कृत की जा सकती हैं? प्रकृति की क्षमताएँ उपयोग में लाकर अनेक सुविधाएँ पाई जा सकती हैं, पर उन सुविधाओं का समुचित उपभोग करने के लिए मनुष्य की चिंतन-प्रक्रिया का आधार क्या हो, यह बताना

दर्शन का काम है। दर्शन वृक्ष है और विज्ञान उसकी एक टहनी। विज्ञानवेत्ता की तुलना में दार्शनिक का कार्यक्षेत्र और उत्तरदायित्व अति विस्तृत है।''

प्रो० मेक्समूलर भारतीय धर्म के गहन अध्ययन के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत को धर्म और दर्शन का जन्मदाता माना जाना चाहिए। महान दार्शनिक विक्टर ह्यूगो जिनका कथन है कि भारत में दर्शन का समस्त इतिहास बहुत संश्लिष्ट है। प्लेटो, स्पीनोजा, वर्कले, ह्यूम, कांट, हेगल, स्कोफेन्यूअर, स्पेंसर, डार्विन आदि ने एक स्वर से भारतीय दर्शन को विश्व सत्य के अतीव निकट माना है। प्रो० हक्सले का कथन है, ''प्रकृति के कानूनों का जैसा बुद्धिसंगत और विज्ञान सम्मत विवेचन भारतीय दर्शन में किया गया है वैसा विश्व भर में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता''। मोनियर विलियम का कथन है—''इस सहस्राब्दी के दार्शनिक केवल उन्हीं तथ्यों को अपने ढंग से ऊहापोह कर रहे हैं, जिनका कि भारतीय तत्त्ववेत्ता चिर अतीत में सघन प्रतिपादन और विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। '' प्रो० हिंग्वे जेन ने लिखा है—''ऋग्वेद में नृतत्त्व विज्ञान और प्रकृति विज्ञान का जैसा सुंदर विश्लेषण है, वैसा आधुनिक विज्ञान की समस्त धाराएँ मिलकर भी नहीं कर सकीं।''

प्रो० हापकिंस ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है कि हिंदू धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषता सहिष्णु और समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। भिन्न मान्यताओं को उसमें उदारता पूर्वक सम्मान दिया गया है। ईसा से ३०० वर्ष पूर्व तक का जो इतिहास मिलता है, उससे यही सिद्ध होता है कि धर्म के नाम पर भारत में कभी कोई विग्रह नहीं हुआ। भारत में अनेक विचारधाराएँ अपने-अपने ढंग से फलती-फूलती रहीं और उन सबका मंथन करके सत्य के निकट पहुँचने में मानवीय मस्तिष्क को भारतीय धर्म से बहुत सहायता मिली।

फेराड्रक स्वेलेजन की शोध यह प्रामाणित करती है कि विश्व दर्शन पर भारतीय तत्त्वज्ञान की अमिट छाप है। उसने कांट के दार्शनिक

प्रतिपादन को भी भारतीय दर्शन के एक अंश की व्याख्या मात्र माना है। स्कोफेनर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सहज ही योजनाबद्ध चिंतन कर सकने वाली दार्शनिक मान्यताएँ भारत की ही देन हैं।

दर्शनशास्त्र को प्रत्यक्षवादियों द्वारा शब्दाडंबर, वाग्विलास, कल्पना, काव्य आदि व्यंग्य शब्दों से संबोधित किया गया है, पर वस्तुत: वह वैसा है नहीं। विचार करने की अस्त-व्यस्त शैली को, क्रमबद्ध और दिशाबद्ध करने का महान प्रयोजन दार्शनिक शैली से ही हो सकना संभव है। अन्यथा उच्छृंखल गतिविधियाँ और अनगढ़ मान्यताओं का मिला-जुला स्वरूप ऐसा विचित्र बन जाएगा जिससे किसी लक्ष्य तक न पहुँचा जा सकेगा। उससे अंधड़ में इधर-उधर उड़ते- फिरते रहने वाले तिनके की तरह कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में सफलता न मिलेगी। योजनाबद्ध चिंतन की भी उपयोगिता है। वह कार्य दार्शनिक रीति-नीति से ही संभव हो सकता है।

जीवन का यदि कोई दर्शन न हो, उसके साथ कुछ आस्थाएँ, मान्यताएँ जुड़ी न हों, किन्हीं सिद्धांतों का समावेश न हो तो आदमी, आदमी न रहकर एक प्राणीमात्र रह जाता है। गुजारे भर का लक्ष्य लेकर चलने वाले अपनी योग्यता और तत्परता के अनुसार सुविधा-साधन तो न्यूनाधिक मात्रा में उपार्जित कर लेते हैं, किंतु कोई ऊँचा लक्ष्य सामने न रहने पर अंतरात्मा में जीवंत उत्साह नहीं सँजो पाते। यों सामान्य उत्साह तो भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की आतुर लालसा से भी उत्पन्न हो सकता है, पर उसके नैतिक बने रहने में संदेह ही बना रहेगा। भौतिक लाभों की अपेक्षा यदि किन्हीं आदर्शों की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर चला जाए, तो उत्साह भरी सक्रियता के अतिरिक्त उसके साथ उत्कृष्टतावादी तत्त्व भी जुड़े रहेंगे और उन प्रयासों से आत्मिक उन्नति का लाभ होता रहेगा, भले ही भौतिक लाभ उतना न हो। लोकहित की ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ जिनमें अपने पुरुषार्थ का प्रकटीकरण ही नहीं, आदर्शवादी होने का भी परिचय मिलता हो, निश्चित रूप से उस महत्त्वाकांक्षी के व्यक्तित्त्व को सम्मानास्पद

बनाती हैं। इस उपलब्धि के सहारे मनुष्य उस स्थिति में पहुँच जाता है, जिसमें जन सहयोग के सहारे वैसा कुछ प्राप्त किया जा सके जो धन-संपदा से भी अधिक मूल्यवान है।

मानवीय प्रकृति की व्याख्या करते हुए हमें उसके दृष्टिकोण और चित्रण के स्तर का भी मूल्यांकन करना चाहिए। भौतिक दृष्टि से सुखी संपन्न बन जाने पर भी यदि मनुष्य उद्देश्य विहीन और आदर्श रहित बना रहे तो वह अपने लिए संतोष एवं गौरव प्राप्त न कर सकेगा। समाज में उसे न तो उपयोगी माना जाएगा और न उसे सम्मान दिया जाएगा।

नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रांसीसी वैज्ञानिक अलेक्सिस फैरेल ने कहा है— "हम बहुत कुछ खोज चुके और अगले दिनों इससे भी अधिक रहस्यपूर्ण प्रकृतिगत रहस्यों को खोजने जा रहे हैं, किंतु अभी भी 'मनुष्य' पहले की तरह ही अविज्ञात बना हुआ है। सच तो यह है कि वह इस प्रकार खोता चला जा रहा है कि अगले दिनों उसे खोज निकालना कठिन हो जाएगा। मनुष्य की ज्ञान-संपदा आश्चर्यजनक गति से बढ़ी है, पर अपने संबंध में वह अभी भी असीम अज्ञान से जकड़ा हुआ है।"

विद्वानों की संख्या बढ़ती देखकर प्रसन्नता होती है, पर खेद इस बात का है कि ज्ञानी तेजी से समाप्त होते चले जा रहे हैं। विद्वान और ज्ञानी का अंतर बताते हुए चीनी दार्शनिक लाओत्से कहते थे— "जो अपने को जानता है, वह ज्ञानी और जो दूसरों को जानता है वह विद्वान है। अपने संबंध में बढ़ता हुआ अनाड़ीपन ही मनुष्य को जटिल उलझनों में और समाज को कठिन समस्याओं में जकड़ता चला जा रहा है।"

'मैन दि अननोन' ग्रंथ के लेखक वैज्ञानिक का कथन है कि मानवीय काया का रासायनिक विश्लेषण सरल है। अवयवों की हरकतें समझने में भी सफलता मिली है, सोचने का तंत्र मस्तिष्क किधर चलता और किस तरह करवटें बदलता है— इसका पता भी लगता जा रहा है। सभ्यता का विकास हो रहा है, पर मनुष्य का

पिछड़ापन बरकरार है। आदमी ने दुनिया को अपने योग्य बनाया पर वह अपने लिए 'पराया' बन गया है। सूनेपन का दबाव बढ़ रहा है और भीड़ से अलग होकर जब वह देखता है तो लगता है कि न वह किसी का है और न कोई उसका। यह अपने आपे की क्षति इतनी बड़ी है, जिसकी पूर्ति कदाचित् प्रगति के तथाकथित सभी चरण मिलकर पूरा नहीं कर सकेंगे।

मनुष्य के खंड-खंड का चिंतन-विश्लेषण चल रहा है। उसके अस्तित्व के एक-एक भाग को समग्र शास्त्र का रूप दिया गया है। शरीरशास्त्र, मनःशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे खंडों की जानकारी है तो उपयोगी, पर समग्र मानव को समझे बिना, उसकी मूल प्रकृति और प्रवृति पर ध्यान दिए बिना एकांगी आंशिक समाधानों से कुछ बनेगा नहीं। एक छेद सीते-सीते दूसरे और नए फट पड़ें तो उस मरम्मत से कब तक काम चलेगा! विज्ञान की शोधें मनुष्य की कतिपय आवश्यकताओं को पूरा करने और जानकारियों को बढ़ाने के उद्देश्य से पूरी की जाती हैं, किंतु उस महाविद्या की ओर से क्यों उदासी है, जिसे समग्र मानव की विवेचना-'साइंस ऑफ मैन' कह सकते हैं।

विज्ञान के आविष्कारकों ने अपने आप को खपाया-श्रमिकों के स्वेद कणों ने विशालकाय निर्माण संपन्न किए है, इंजीनियरों की तन्मयता से निर्माण की योजनाएँ बनती हैं। कलाकार अपनी चेतना को भाव-तरंगों में घुलाकर उपस्थित लोगों को मंत्रमुग्ध करते हैं। आत्मविज्ञानी अपने चिंतन और कर्म का समन्वय करते हुए अपने व्यक्तित्वों को एक सफल प्रयोगशाला के रूप में प्रस्तुत कर सकें तो जन साधारण में भी उसके लिए उत्साह उत्पन्न होगा। लक्ष्य ऊँचा हो और संकल्प प्रखर, तो फिर मनुष्य के लिए बड़े से बड़ा उत्सर्ग कर सकना भी कुछ कठिन नहीं है। चिंतन और व्यवहार का समन्वय करती हुई आदर्शवादी आस्थाओं की स्थापना ही अपने युग की महान क्रांति हो सकती है। उज्ज्वल भविष्य की आशा उसी से बँधेगी। इसका नेतृत्व करने के लिए ऐसे अग्रगामियों की आवश्यकता

है जो लोक-शिक्षण के लिए सबसे प्रभावशाली उपाय आदर्शों के अनुरूप आत्मनिर्माण अपना सकें और जलते दीपक द्वारा नए दीपकों के जलने की परंपरा स्थापित कर सकें।

व्यक्ति, समाज का एक मूल्यवान घटक है। उसके प्रयासों का परिणाम उस अकेले तक ही सीमित नहीं रहता वरन् अनेक की इसमें साझेदारी रहती है। समुद्र की लहरें एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और मनुष्य एक दूसरे पर अनायास ही अपना प्रभाव छोड़ते हैं। बुरा व्यक्ति अपनी बुराई करके स्वयं दुष्परिणाम भुगत लेता तो कोई चिंता की बात नहीं थी, पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसकी प्रत्येक गतिविधि की दूसरों पर भली-बुरी प्रतिक्रिया होती है। भला मनुष्य परोक्ष रूप में भली परंपरा पैदा करके असंख्यों को किसी-न-किसी रूप में सुखी बनाता और ऊँचा उठाता है। इसके विपरीत दुर्बुद्धिग्रस्त व्यक्ति अपने दुष्ट चिंतन और चरित्र से कइयों को अनुयायी बनाता है और कितनों को ही कष्टकारक परिस्थितियों में धकेलता है। अस्तु, समग्र प्रगति की सुख-शांतिदायिनी दिशा अभीष्ट हो तो व्यक्ति के अंतराल को परिष्कृत बनाने के लिए उतने ही प्रयत्न करने पड़ेंगे जितने कि भौतिक सुविधा-संवर्द्धन के लिए किए जाते हैं। भीड़ को दिशा निर्देश देने का काम चलता रहे, पर व्यक्तित्त्वों की गहरी परतें कितनी मूल्यवान हैं, इसका महत्त्व आँखों से ओझल न होने पाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए।

भारतीय धर्म दर्शन में ये सारी विशेषताएँ मौजूद हैं जिनका अवलंबन लेकर व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। परिष्कृत व्यक्तित्व ही मनुष्य, समाज और विश्व को प्रकाश और प्रेरणा दे सकते हैं। इस युग को केवल यही चाहिए, शेष सब कुछ तो यहाँ पहले से ही विद्यमान है।

सांस्कृतिक एकता का आधार–धर्म

सभ्यता और संस्कृति इस युग के दो बहुचर्चित विषय हैं। आस्थाओं और मान्यताओं को संस्कृति और तदनुरूप व्यवहार, आचरण को सभ्यता की संज्ञा दी जाती है। दुनिया में जितनी जातियाँ हैं उनकी सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ भी हैं, किंतु यदि भारतीय दर्शन को निरीक्षक मानकर विश्लेषण करें, तो पता चलता है कि सभ्यता और संस्कृतियाँ अनेक नहीं हो सकतीं। मानवीय सभ्यता या संस्कृति कहें या चाहे जो भी नाम दें। मानवीय दर्शन सर्वत्र एक ही हो सकता है। मानवीय संस्कृति केवल एक हो सकती है, दो नहीं; क्योंकि विज्ञान कुछ भी हो, मानवीय प्रादुर्भाव का केंद्रबिंदु और आधार एक ही हो सकता है। इसका निर्धारण जीवन के बाह्य स्वरूप भर से नहीं किया जा सकता। संस्कृति को यथार्थ स्वरूप प्रदान करने के लिए अंततः धर्म और दर्शन की ही शरण में जाना पड़ेगा।

संस्कृति का अर्थ है—मनुष्य का भीतरी विकास। उसका परिचय व्यक्ति के निजी चरित्र और दूसरों के साथ किए जाने वाले सद्व्यवहार से मिलता है। दूसरों को ठीक तरह समझ सकने और अपनी स्थिति एवं समझ धैर्यपूर्वक दूसरों को समझा सकने की स्थिति भी उस योग्यता में सम्मिलित कर सकते हैं, जो संस्कृति की देन है।

आदान-प्रदान एक तथ्य है जिसके सहारे मानवीय प्रगति के चरण आगे बढ़ते-बढ़ते वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। कृषि, पशु-पालन, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, उद्योग, विज्ञान, दर्शन जैसे जीवन की मौलिक आवश्यकताओं से संबंधित प्रसंग किसी एक क्षेत्र या वर्ग की बपौती नहीं है। एक वर्ग की उपलब्धियों से दूसरे क्षेत्र के लोग परिचित

हुए हैं। परस्पर आदान-प्रदान चले हैं और भौतिक क्षेत्र में सुविधा-संवर्द्धन का पथ-प्रशस्त हुआ है। ठीक यही बात धर्म और संस्कृति के संबंध में भी है। एक ने अपने संपर्क-क्षेत्र को प्रभावित किया है। एक लहर ने दूसरी को आगे धकेला है। लेन-देन का सिलसिला सर्वत्र चलता रहा है। मिल-जुलकर ही मनुष्य हर क्षेत्र में आगे बढ़ा है। इस समन्वय से धर्म और संस्कृति भी अछूते नहीं रहे हैं। उन्होंने एकदूसरे को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित किया है।

अब दुनिया में कोई नसल ऐसी नहीं बची जो पूरी तरह रक्त शुद्धि का दावा कर सके। जातियों के बीच प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से रोटी-बेटी के व्यवहार चलते रहे हैं और नसलों के मूलरूप में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। भारतवंशी लोगों के रक्त में आर्य और द्रविड़ रक्त का सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि दोनों से मिलकर एक तीसरी अथवा संयुक्त जाति बन गई है। इसी प्रकार एक सभ्यता पर दूसरी सभ्यता के निकट आने का भारी प्रभाव पड़ा है। भारत में पिछले एक हजार वर्ष से मुस्लिम और ईसाई सभ्यताएँ आती रही हैं। उनके पूर्ण अनुयायी कितने बने, यह बात पृथक है। सामान्य जनमानस ने उनका बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया है। प्रचलित भारतीय पोशाक ऐसी नहीं है। जिसे दो हजार वर्ष पुरानी कहा जा सके। इसी प्रकार रीति-रिवाजों एवं मान्यताओं में भी अनजाने ऐसे तत्त्वों का समावेश होता रहा है, जिसे खुले मन से न सही, हिचकिचाहट के साथ समन्वय स्वीकार किया जा सके।

यह सभ्यताओं का समन्वय एवं आदान-प्रदान उचित भी है और आवश्यक भी। कट्टरता के कटघरे में मानवीय विवेक को कैद रखे रहना असंभव है। विवेक-दृष्टि जाग्रत होते ही इन कटघरों की दीवारें टूटती हैं और जो रुचिकर या उपयोगी लगता है, उसका बिना किसी प्रचार या दबाव के आदान-प्रदान चल पड़ता है। इसकी रोक-थाम के लिए कट्टरपंथी प्रयास सदा से हाथ-पैर पीटते रहे हैं, पर यह कठिन ही रहा है। हवा उन्मुक्त आकाश में बहती है। सरदी-

गरमी का विस्तार-व्यापक क्षेत्र में होता है। इन्हें बंधनों में बाँधकर कैदियों की तरह अपने ही घर में रुके रहने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। संप्रदायों और सभ्यताओं में भी यह आदान-प्रदान अपने ढंग से चुपके-चुपके चलता रहा है। भविष्य में इसकी गति और भी तीव्र होगी।

धर्म और संस्कृति के बारे में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, वे दोनों ही सार्वभौम हैं, उन्हें सर्वजनीन कहा जा सकता है। मनुष्यता के टुकड़े नहीं हो सके। सज्जनता की परिभाषा में बहुत मतभेद नहीं हैं। शारीरिक संरचना की तरह मानवीय अंत:करण की मूलसत्ता भी एक ही प्रकार की है, भौतिक प्रवृतियाँ भी लगभग एक-सी हैं। एकता व्यापक है और शाश्वत। पृथकता सामयिक है और क्षणिक। हम सब एक ही पिता के पुत्र हैं। एक ही धरती पर पैदा हुए हैं। एक ही प्रकाश के नीचे रहते हैं। एक ही सूर्य से गरमी पाते हैं और बादलों के अनुदान से एक ही तरह अपना गुजारा करते हैं। फिर कृत्रिम विभेद से बहुत दिनों तक बहुत दूरी तक किस प्रकार बँधे रह सकते हैं? औचित्य को आधार मानकर परस्पर आदान-प्रदान का द्वार जितना खोलकर रखा जाएगा उतना ही स्वच्छ हवा और रोशनी का लाभ मिलेगा। खिड़कियाँ बंद रखकर हम अपनी विशेषताओं को न तो सुरक्षित रख सकते हैं और न स्वच्छ हवा और खुली धूप से मिलने वाले लाभों से लाभान्वित हो सकते हैं। संकीर्णता अपनाकर पाया कम और खोया अधिक जाता है।

एकता की दिशा में हम आगे बढ़े, तो इसमें पूर्वजों के प्रति अनास्था ही नहीं, वरन् श्रद्धा की ही अभिव्यक्ति है। पूर्वज अपने पूर्वजों की विरासत को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हुए भी अपने बुद्धिबल और बाहुबल से नए अनुभव एकत्रित करते, लाभ कमाते और साधन जुटाते रहे हैं। इसमें पूर्वजों को संतोष ही हो सकता है, साथ ही गर्व भी। अपनी संतान पर कोई अभिभावक यह बंधन नहीं लगाता कि हमसे अधिक शिक्षा या संपत्ति संतान को नहीं

कमानी चाहिए। इससे अधिक यश या कौशल अर्जित नहीं करना चाहिए। बंधन लगाना तो दूर—समझदार अभिभावक अपने से अधिक प्रगति करने के लिए अपने उत्तराधिकारियों को उत्साहित और उत्तेजित करते हैं। ऐसी दशा में पूर्वजों की तुलना में, एकता के क्षेत्र में हम कुछ कदम और आगे बढ़ा सके तो इसमें असमंजस की कोई बात नहीं है। इसमें पूर्वजों की अवज्ञा जैसा कोई प्रश्न उठता ही नहीं। पिताजी यदि ६० वर्ष जिएँ और बेटा ७० वर्ष जी सके, तो इसमें दु:ख मानने की कोई बात नहीं है। सदाशयता, शालीनता, एकता और विवेकशीलता की दिशा में प्रगति करना मानवीय प्रगति के इतिहास में एक अच्छी कड़ी और जोड़ देना ही कहा जा सकता है।

अब राष्ट्रवाद के दिन लदते जा रहे हैं। देशभक्ति के जोश को अब उतना नहीं उभारा जाता, जिसमें अपने ही क्षेत्र या वर्ग को सर्वोच्च ठहराया जाए अथवा विश्व विजय करके सर्वत्र अपना ही झंडा फहराने का उन्माद उठ खड़ा हो। ऐसी पक्षपाती और आवेशग्रसित देशभक्ति अब विचारशील वर्ग में नापसंद की जाती है और विश्व नागरिकता की '**वसुधैव कुटुंबकम्**' की बात को महत्त्व दिया जाता है। विश्व एकता के सिद्धांत को मान्यता मिली है और राष्ट्र संघ बना है। इस दिशा में प्रगति के चरण धीमे उठ रहे हैं, यह चिंता का विषय है। अपेक्षा यही की जाती है कि संसार की व्यापक समस्याओं का समाधान विश्व एकता के बिना और किसी प्रकार संभव न हो सकेगा। एक भाषा, एक राष्ट्र, एक संस्कृति अपना कर ही उज्ज्वल भविष्य की, विश्वशांति की स्थापना हो सकती है। यह तथ्य मानवीय विवेक ने स्वीकार कर लिया है और विभेद उभारने वाले तत्त्वों को अमान्य ठहराया जा रहा है। सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में भी ऐसी ही व्यापक एकता उत्पन्न करने के लिए वातावरण बनाना होगा। राष्ट्रवाद, संप्रदायवाद की तरह सभ्यतावाद की कट्टरता को भी अगले दिनों क्रमश: अधिक शिथिल करते

चलने की आवश्यकता पड़ेगी। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना के लिए ऐसे एकतावादी विवेक को जाग्रत करने की आवश्यकता है, जिसमें अपने ही पक्ष को सर्वोपरि ठहराए जाने का आग्रह न हो। अपने-पराए का भेदभाव न करके औचित्य, न्याय, तथ्य और विवेक को ही जब मान्यता दी जाएगी तो फिर उपयोगिता स्वीकार करने की मन:स्थिति बन जाएगी, तब जहाँ से भी—जितनी मात्रा में तथ्य दृष्टिगोचर होगा, स्वीकार किया जाएगा। इसके लिए किसी को खेद मनाने की आवश्यकता न होगी कि हमारी अमुक मान्यताओं को सर्वांश में जाग्रत विवेक ने स्वीकार नहीं किया। पिछला पैर उठाकर ही अगला पैर रखा जाता है। लंबी मंजिल इसी प्रकार पूरी होती है। आगे बढ़ना है तो पीछे का पैर अपने स्थान पर जमाए रहने का आग्रह नहीं चल सकता।

अँगरेजी में संस्कृति का अर्थबोधक शब्द है—'कल्चर' इसका तात्पर्य है—सभ्यता। रहन-सहन एवं सोचने-विचारने का तरीका। अपने नाम, रूप, धन, परिवार, क्षेत्र, भाषा, धर्म आदि की तरह ही अपने रहन-सहन की पद्धति भी लोगों को प्रिय लगती है। यह प्रियता बहुधा पक्षपात के रूप में बदल जाती है, जो अपने को श्रेष्ठ दूसरों को निकृष्ट मानने की तरह है। अपने परिकर एवं सरंजाम के संबंध में भी वैसी ही मान्यता बन जाती है। इसमें पूर्वाग्रह और पक्षपात का गहरा पुट रहता है। यद्यपि वह लगता ऐसा है मानो सत्य अपने ही हिस्से में आया है और दूसरे सभी गलत सोचते और झूठ बोलते हैं। अन्यान्य मतभेदों की तरह संस्कृति संबंधी मतभेद भी एक है, जिसके लिए बहुत बार भयंकर युद्ध होते रहे। व्यक्तिगत जीवन में भी विद्वेष, घृणा, आक्रमण, प्रतिरक्षा जैसी विडंबनाएँ अनेक बार संस्कृति के नाम पर भी खड़ी होती रही हैं। और उनसे मनुष्य जाति को धन, जन, नीति, सद्भावना, शांति और सुरक्षा की दृष्टि से भारी हानि उठानी पड़ी है। इस प्रकार जहाँ संस्कृति का मूल अस्तित्व व्यक्ति और समाज के कल्याणकारी तत्त्व पर आधारित है,

वहाँ उसके प्रति अत्युत्साह और दुराग्रह में विद्वेष के विषबीज भी कम मात्रा में भरे हुए नहीं हैं। यूरोप में ईसाई धर्म के प्रति और एशिया में इस्लाम धर्म के प्रति अत्युत्साह ने जिस निष्ठुरता का परिचय दिया है, उससे उन संस्कृति प्रेमियों का गौरव बढ़ा नहीं। उन धर्मों की गरिमा अंत:करण की गहराई में प्रवेश न कर सकी, यद्यपि बहुतों ने भयभीत होकर अथवा लोभ-लाभ की दृष्टि से उन्हें स्वीकार अवश्य कर लिया।

संस्कृति शब्द को सभ्यता से पृथक रखा जा सके तो अर्थ का अनर्थ होने से बच सकता है। धर्म और संप्रदाय के संबंध में भी यही बात होनी चाहिए। धर्म एक चीज है और संप्रदाय दूसरी। संप्रदायवाद-धर्मतत्त्व का समर्थक ही हो, यह आवश्यक नहीं। बहुत-सी रिवाजें एवं मान्यताएँ ऐसी हो सकती हैं, जो प्राचीन होने के साथ-साथ लोकप्रिय बन गई हों और अनेक व्यक्ति उनके समर्थक अनुयायी हों, इतने पर भी उनका बहुत-सा पक्ष धर्मभावना के मूलसिद्धांतों से मेल न खाता हो। भारतीय समाज को ही लें। जात-पाँति के नाम पर ऊँच-नीच की भावना और नर-नारी की असमानता की मान्यता गहराई तक लोगों के मनों में उतर गई है। नीति और न्याय की दृष्टि से उसका तनिक भी औचित्य नहीं है। फिर भी परंपरागत अभ्यास के कारण उसकी जड़ें इतनी नीची चली गई हैं, जो काटे नहीं कटतीं। इसी प्रकार हिंदू धर्म में अथवा अन्य धर्मों में ऐसे ही प्रचलन हो सकते हैं। देवताओं के सामने पशु-बलि चढ़ाया जाना, धर्म की मूल मान्यताओं से, उच्चस्तरीय आदर्शों से मेल नहीं खाता, फिर भी उसे अनेक धर्मों में मान्यता प्राप्त है।

जिस प्रकार संप्रदाय को धर्म का कलेवर भर कह सकते हैं, वैसे ही सभ्यताओं में संस्कृति के कुछ तत्त्व झाँकते हुए देखे जा सकते हैं। वस्त्र, आभूषण, वेश-विन्यास देखकर किसी व्यक्ति के संबंध में बहुत कुछ जानकारियाँ मिल सकती हैं, फिर भी उस आवरण को पूरा व्यक्तित्व नहीं कहा जा सकता है। धर्म एक तत्त्वज्ञान

है जिसमें उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व की दिशा में मनुष्य को अग्रगामी बनाने के लिए कुछ नीति-नियमों का निर्धारण है। संप्रदाय उस दृष्टिकोण को मानने वाले समुदाय के रहन-सहन का तरीका है। यह तरीका मात्र आदर्शों से ही प्रेरित नहीं होता, वरन् परिस्थितियों, साधनों एवं परंपराओं पर आधारित होता है, उसमें धर्मतत्त्व के सिद्धांत भी किसी मात्रा में घुले-मिले हो सकते हैं। पर कोई समूचा संप्रदाय समूचे धर्मतत्त्व का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसमें दूसरी चीजों का भी समावेश हो सकता है। किसी संप्रदाय का कट्टर अनुयायी सच्चे अर्थों में धर्मात्मा भी होगा, यह नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार अनेकानेक सभ्यताओं में भी मानवीय संस्कृति की झलक मिल सकती है, पर कोई सभ्यता पूरी तरह सुसंस्कृत होने का दावा नहीं कर सकती। यदि ऐसा ही होता तो फिर पृथकता से लेकर विरोध तक के ऐसे तत्त्व कहीं दिखाई न पड़ते जिनसे टकराव की स्थिति पैदा होती हो।

संस्कृति देश और जाति में विभाजित नहीं हो सकती। वह मानवीय है और सार्वभौम है। दूसरे अर्थों में उसे मनुष्यता—मानवीय गरिमा के अनुरूप उच्चस्तरीय श्रद्धा, सद्भावना कह सकते हैं। इसके प्रकाश में मनुष्य परस्पर स्नेह-सौजन्य के बंधनों में बँधते हैं। सहिष्णु बनते हैं। एकदूसरे के निकट आते और समझने का प्रयत्न करते हैं। विभेद की खाई पाटते हैं, पर सभ्यताओं के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे क्षेत्रों-जातियों, मान्यताओं और परिस्थितियों का कलेवर ओढ़े रहने से स्पष्टत: एकदूसरे से बहुत हद तक पृथक दीखती हैं और कितनी ही बातों में उनके बीच साधारण मतभेद भी हैं। सभ्यताएँ टकराती हैं। एक सभ्यता के अनुयायी दूसरे लोगों को अपने झंडे के तले लाने के लिए उचित ही नहीं, अनुचित उपाय भी काम में लाते हैं। अपनी सभ्यता को दूसरों की सभ्यता के आक्रमण से बचाने के लिए लोग सुरक्षा के लिए भारी प्रयत्न करते हैं। ऐसे उपाय सोचते हैं जिनसे परस्पर घुलने-मिलने और आदान-

प्रदान के अवसर न आने पाए। धर्मों के बीच कट्टरता इस हद तक देखी जाती है कि दूसरे धर्म के पूजा-उपचारों में सम्मिलित होने पर भी प्रतिबंध रहता है। इसी प्रकार एक सभ्यता वाले पृथक दूसरी सभ्यता वालों के वेश-विन्यास तक को अस्वीकार करते हैं। विचारों की तुलनात्मक समीक्षा करने की तो उनमें गुंजाइश ही नहीं रहती। अपना सो सर्वश्रेष्ठ, दूसरों का सो निकृष्टतम। यही अहंकार बुरी तरह छाया रहता है। सभ्यतानुयायी और धर्मावलम्बी कहलाने वाले व्यक्ति ही इस पक्षपात के सर्वाधिक शिकार पाए जाते हैं।

संस्कृति सौंदर्योपासना है। एक भावभरी उदात्त दृष्टि रहे। वन, उपवनों, नदी, तालाबों, प्राणियों, बादलों, तारकों जैसी सामान्य वस्तुओं का जब सौंदर्य पारखी दृष्टि से देखा जाता है तो वे अंतरात्मा में आह्लाद उत्पन्न करती हैं। श्रद्धा के आरोपण से पत्थर में भगवान पैदा होते हैं। सांस्कृतिक चिंतन से हम इस संसार को भगवान का विराट स्वरूप और अपने कलेवर को ईश्वर के मंदिर जैसा पवित्र अनुभव कर सकते हैं। जहाँ ऐसी दृष्टि होगी, वहाँ दूसरों से सद्व्यवहार करने और अपनी उत्कृष्टता बनाए रखने की ही आकांक्षा बनी रहेगी और उसे जितना कार्यान्वित करना बन पड़ेगा, उतना ही अपना और दूसरों का सच्चा हितसाधन बन पड़ेगा। सुसंस्कृत दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य अपने देवत्व को विकसित करने और वातावरण को सुख-शांति से भरा-पूरा बनाने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकता है।

विचारक इलियट ने अपने ग्रंथ 'संस्कृति का पर्यवेक्षण' में लिखा है—"संस्कृति का स्वरूप मानवीय उत्कृष्टता के अनुरूप आचरण करने के लिए विवश करने वाली आस्था है। जिसका अंत:करण इस रंग में जितनी गहराई तक रँगा हुआ है, वह उतना ही सुसंस्कत है।"

धर्म का मर्म—आस्थाओं में परिवर्तन लाना

विज्ञान ने इस मान्यता को इतना उलझा दिया है कि आज संसार में, सर्वत्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशृंखलता व्याप्त हो गई है। विराट दृष्टि से विचार करने पर मनुष्य जीवन का लक्ष्य कुछ और दिखाई देता है, पर तत्काल लाभ की दृष्टि से कुछ और। विज्ञान ने इस स्थिति में पर्यवेक्षक बनकर मनुष्य को अनजान वन में भटका दिया है। विचार करके भी मनुष्य उससे लौटकर अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पा रहा।

अच्छा करना तभी संभव हो सकता है, जब उसके मूल में अच्छा चिंतन भी उत्कृष्टता की प्रेरणा भरता रहे। करना मूल्यवान है,पर सोचना अव्यक्त होते हुए भी क्रियाकलाप के समतुल्य ही महत्त्वपूर्ण है। लोगों को श्रेष्ठ काम करने के लिए कहा जाए, पर साथ ही उन्हें यह भी सुझाया जाए कि कर्म का बाह्यस्वरूप ही सब कुछ नहीं है, उसकी आत्मा तो उद्देश्यों में निवास करती है।

अंतर्राष्ट्रीय मसीही धर्म सम्मेलन में उद्बोधन करते हुए संसार के ईसाई जगद्गुरु-आर्कबिशप कार्डिनल ग्रेशियस ने कहा था—"मसीही धर्मसमेत समस्त धर्मावलंबियों को अपने सहयोग का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक बनाना चाहिए। वह सहयोग पारस्परिक सद्भाव, सहानुभूति और विश्वास पर आधारित होना चाहिए। धर्म की मूल धारणा और ईश्वरप्रदत्त न्याय की समूची परंपरा की रक्षा, विकास और उसे समृद्ध बनाने जैसे महान कार्यों में विभिन्न धर्म मिल-जुलकर काम कर सकते हैं।"

अनास्था का संकट सभी धर्मों के सामने समान रूप से है। उद्योग, विज्ञान और विकृत तर्कवाद ने जो अनास्था उत्पन्न की है,उससे प्रभावित हुए बिना कोई धर्म रहा नहीं है। संचित कुसंस्कारों की पशु-प्रवृतियों को इस अनास्था ने और भी भड़काया है,फलतः

समूची मनुष्य जाति स्वार्थांधता और दुष्टता की काली छाया से ग्रसित होती चली जा रही है।

धर्म का तात्पर्य है—शालीनता एवं नीतिमत्ता। यह प्रयोजन उच्चस्तरीय आस्थाओं के सहारे ही सधता है। दैनिक जीवन के प्रत्येक क्रिया-कृत्य के साथ सज्जनता और उदारता के तत्त्वों को सँजो देने की विचारपद्धति का नाम अध्यात्म है। आध्यात्मिकता का चक्र आस्तिकता की धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है—इन सबका परस्पर संबंध और तारतम्य है। एक कड़ी तोड़ देने में यह समूची जंजीर ही बिखर जाती है। वैयक्तिक जीवन में जिसे नीतिमत्ता कहते हैं, वही सामूहिक रूप में विकसित होने के उपरांत सामाजिक सुव्यवस्था बन जाती है। प्रगति और समृद्धि की, सुख और शांति की आधारशिला इसी पृष्ठभूमि पर रखी जाती है।

नीति क्या है? इसका उत्तर उतना सरल नहीं है, जितना कि समझा जाता है। उसका स्वरूप कई विचारक कई तरह प्रस्तुत करते हैं। नीतिशास्त्री सिजविक ने अपने ग्रंथ "मेथड ऑफ एथिक्स" में लिखा है—"सत्य बोलना अपरिहार्य नहीं है। राजपुरुषों को अपनी गतिविधियाँ गुप्त रखनी पड़ती हैं। व्यापारियों को भी अपने निर्माण तथा विक्रय के रहस्य छिपाकर रखने पड़ते हैं। अपराधियों को पकड़ने के लिए जासूसी की कला नितांत उपयोगी है, उसमें दुराव और छल का प्रश्रय लिया जाता है। इसलिए नीति का आधार सचाई को मानकर नहीं चला जा सकता । अधिक लोगों के अधिक सुख का ध्यान रखते हुए नीति का निर्धारण होना चाहिए।"

लेस्ले स्टीफन ने अपने ग्रंथ 'साइंस ऑफ एथिक्स' में लिखा है—"किसी के कार्य के स्वरूप को देखकर उसे नीति या अनीति की संज्ञा देना उचित नहीं। कर्ता की नीयत और कर्म के परिणाम की विवेचना करने पर ही उसे जाना जा सकता है।"

क्रियाकृत्यों को देखकर नीतिमत्ता का निर्णय नहीं हो सकता। संभव है कोई व्यक्ति भीतर से छली होकर भी बाहर से धार्मिकता

का आवरण ओढ़े हों। यह भी हो सकता है कि कोई धर्म-कृत्यों से उदासीन रहकर भी चरित्र और चिंतन की दृष्टि से बहुत ऊँची स्थिति में रह रहा हो। व्यक्ति की गरिमा, मात्र उसकी आंतरिक आस्थाओं को देखने से ही जानी जा सकती है। नीयत ऊँची रहने पर यदि व्यवहार में भूल या भ्रम से कोई ऐसा काम बन पड़े, जो देखने वालों को अच्छा न लगे तो भी यथार्थता जहाँ-की-तहाँ रहेगी, अव्यवस्था फैलाने के लिए उसे दोषी समझा और दंडित किया जा सकता है। इतने पर भी उसकी उत्कृष्टता अक्षुण्ण बनी रहेगी। व्यक्तित्व और कर्तृत्व की सच्ची परख उसकी आस्थाओं को समझे बिना हो नहीं सकती। धर्मतत्त्व की गहन गति इसीलिए मानी गई है कि उसे मात्र क्रिया के आधार पर नहीं जाना जा सकता। नीयत या ईमान ही उसका प्राणभूत मध्यबिंदु है।

संस्कृति का अर्थ है—सुसंस्कारिता। इसके पर्यायवाची शब्द हैं—सज्जनता और आत्मीयता। ऐसी आत्मीयता जो दूसरों के सुख-दुःख को अपनी निजी संवेदनाओं का अंग बना सके। यह सार्वभौम और सर्वजनीन है। संस्कृति के खंड नहीं हो सकते, उसे जातियों, वर्गों, देशों और संप्रदायों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि संस्कृति को वर्गहित के साथ जोड़ दिया गया तो वह मात्र विजेताओं और शक्तिमंतों की ही इच्छा पूरी करेगी। अन्य लोग तो उससे पिसते और पददलित ही होते रहेंगे। ऐसी संस्कृति को विकृति ही कहा जाएगा भले ही उसे लबादा कितना ही आकर्षक क्यों न पहनाया गया हो?

संस्कृति एक है उसे खंडों में विभक्त नहीं किया जाना चाहिए। अन्यथा यह टुकड़े आपस में टकराने लगेंगे और यादवी वंश विनाश का अप्रिय प्रसंग उपस्थित करेंगे। जर्मन संस्कृति, अरब संस्कृति, रोम संस्कृति आदि के पक्षधरों ने अपने अत्युत्साह को उस चौराहे पर इस तरह नंगा ला खड़ा किया, जहाँ विश्व-संस्कृति की आत्मा को अपनी लज्जा बचानी कठिन पड़ गई। सर्वहारा की नवोदित संस्कृति, सामान्य जनजीवन को मानवोचित न्याय प्राप्त कर सकने का अवसर

दे सकेगी, इसमें संदेहों की भरमार होती चली जा रही है। माओ की लाल किताब में छपा वह आह्वान, जिसमें कहा गया कि हिमालय की चोटी पर खड़ा माओ एशिया को अपने पास बुला रहा है। उस आमंत्रण को जिन्हें स्वीकार करना है, सोचत हैं कि निकट बुलाने के उपरांत आखिर हमारा किया क्या जाएगा?

विचारों का एकाकी प्रवाह सदा उपयोगी ही नहीं होता उसमें बहुधा एकपक्षीय विचारणा का बाहुल्य जुड़ जाने से यथार्थता की मात्रा घटने लगती है। अपनी मान्यता और आकांक्षा के पक्ष में मस्तिष्क काम करता चला जाता है और प्रतिपक्षी तर्कों एवं तथ्यों का ध्यान ही नहीं रहता। किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए पक्ष और विपक्ष के सभी तर्कों को सामने रखा जाना चाहिए। न्यायाधीश को वस्तुस्थिति समझने के लिए वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के प्रमाण, साक्षी एवं तर्क सुनने पड़ते हैं। अन्य न्यायाधीशों ने ऐसे प्रसंगों पर क्या-क्या निष्कर्ष निकाले हैं? इसका ध्यान रखना पड़ता है। तब कहीं उचित निर्णय करने की स्थिति बनती है। यदि एक ही पक्ष की बात सुनी जाए और दूसरा पक्ष कुछ बताए ही नहीं, तो स्वभावत: एकांगी निर्णय करने की स्थिति खड़ी हो जाएगी। इसमें न्याय के स्थान पर अन्याय का पक्षपात जैसी दुर्घटना घटित हो जाएगी। इसमें न्यायाधीश की नीयत का नहीं, उस एकांगी परिस्थिति का दोष है, जिसमें मंथन के लिए, काट-छाँट के लिए अवसर ही नहीं मिला और न करने योग्य निर्णय कर लिया गया। यही दुर्घटना तब घटित होती है, जब एकांगी एकपक्षीय विचारों की घुड़दौड़ मस्तिष्क में चलती रहती है और ऐसे निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं, जो अनुपयुक्त होने के कारण असफल एवं उपहासास्पद सिद्ध होते हैं।

यदि मन पक्षपाती पूर्वाग्रहों से भरा हो तो फिर आप्तवचन और शास्त्र भी सही मार्गदर्शन कर सकने में असमर्थ रहेंगे। उनकी व्याख्याएँ इस प्रकार तोड़-मरोड़कर की जाने लगेंगी कि तर्क की दृष्टि से उस प्रतिपादन को चमत्कारी माना जाएगा और शास्त्रकारों तथा आप्तपुरुषों

के मूल-मंतव्य की वास्तविकता के साथ उसकी पटरी बैठाना अति कठिन हो जाएगा।

गीता के अनेक भाष्य हुए हैं। इन भाष्यकारों ने जो भाष्य किए हैं उनमें उनका अपनी मान्यताओं को सही सिद्ध करने का आग्रह ही प्रधान रूप से काम करता है। जान-बूझकर अथवा अनजाने ही वे मूल ग्रंथकार के वास्तविक उद्देश्य के विपरीत बहुत दूर तक निकल गए हैं। यदि ऐसा न होता तो इतने तरह के परस्पर विरोधी भाष्य एक ही ग्रंथ के क्योंकर लिखे जा सकते। इनमें से कुछ ही टीकाकार सही हो सकते हैं। कर्ता का यह उद्देश्य तो रहा नहीं होगा कि वह ऐसी वस्तु रच दे, जिसका तात्पर्य निकालने वाले इस प्रकार के परस्पर विरोधी जंजाल में फँसकर स्वयं भ्रमित हों और दूसरों को भ्रमित करें। रामायण की अनेक चौपाइयों के ऐसे विचित्र अर्थ सुनने में आते हैं, जिन्हें यदि मूल रचनाकार के सामने रखा जाए तो स्वयं आश्चर्यचकित होकर रह जाएँगे कि जो बातें कल्पना में भी नहीं थी, वे उनके गले किस प्रकार मढ़ दी गई?

संसार के मूर्द्धन्य साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में भारतीय शास्त्रों और मनीषियों के अनेकों उद्धरण दिए हैं। ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि उद्धरणों की शब्द रचना यथावत् है, किंतु उन्हें इस प्रकार के प्रयोजनों में प्रयुक्त किया गया है जैसा कि उन कथनों का मूलोद्देश्य नहीं था। डी० एच० लारेन्स ने अपनी अंत:स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है—"मेरे भीतर एक नहीं कई देवता निवास करते हैं।" यहाँ उनने देवताओं को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह देववाद के मूल प्रतिपादनों के अनुरूप नहीं है। हेनरी मिलर की पुस्तकों में रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के उद्धरणों की भरमार है, पर वे मूलत: उन मंतव्यों के लिए नहीं कहे गए थे जैसा कि मिलर ने सिद्ध किया है। स्टेनबेक ने अपनी पुस्तक 'केनेरी को' में संस्कृत कवि कह्लण की कई रचनाओं का उल्लेख किया है। कालिन विल्सन ने मानवीय पृथकतावाद के समर्थन में भारत में प्रचलित धर्म-दृष्टांतों का अनेक प्रसंगों में सहारा

लिया है। आल्डुआस हक्सले ने प्राचीनता और आधुनिकता के विग्रह में भगवान बुद्ध को आधुनिकता का समर्थक सिद्ध किया है।

एरिक फ्राम ने अपनी पुस्तक 'आर्ट ऑफ लिविंग' में यूरोप में उत्पन्न हुए अनेक संघर्षों की जड़ अरस्तु के तर्कशास्त्र को बताया है। जिसने जनमानस में यह बात बैठाई कि संसार में देव और असुर दो ही शक्तियाँ हैं और दोनों परस्पर विरोधी हैं। यह (ए० एण्ड नान ए) का सिद्धांत मुद्दतों तक लोगों के दिमागों में गूँजता रहा है और वे यह सोचते रहे कि बुराई पर आक्रमण करके उसे मिटाया जाना चाहिए। अब इसका निर्णय कौन करे कि बुराई किस पक्ष की है? अपनी या पराई? इस निष्कर्ष में फैसला अपने ही पक्ष को सही मानने की ओर झुकता है। हम जो सोचते और करते हैं, वही ठीक है। गलती तो अन्य लोग ही कर सकते हैं, वह हमसे क्यों होगी? इसी पूर्वाग्रह से हर व्यक्ति और वर्ग घिरा रहता है। फलतः उसे सामने वाले में ही बुराई दीखती है और उसे मिटाने के लिए तलवार पर धार रखता है। इसी मान्यता ने कलह, विद्वेष और आक्रमणों को जन्म दिया है।

उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति व्यक्ति को निष्ठावान बनाना अध्यात्मवादी तत्त्वदर्शन का काम है। धर्म और दर्शन का लक्ष्य यही है। संस्कृति की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवीयचिंतन का स्तर ऊँचा उठाए। उसे आत्मगौरव की अनुभूति कराने के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस भी प्रदान करे।

सत्य की उपेक्षा न हो

आज विज्ञान को अनास्था का सेनापति बनाकर खड़ा कर दिया गया है और उसे विशृंखलित जीवन के सैनिकों की भरती करने की छूट दे दी गई है। फलस्वरूप सदाचरण जैसी मानवीय गरिमा आज औधे मुँह पड़ी सिसक रही है। दूसरी ओर अवांछनीयता, उच्छृंखलता का दानव सर्वत्र कबड्डी खेलता घूम रहा है।

अहंकार और व्यामोह का समन्वित रूप बनता है—दुराग्रह। इसमें आवेश और हठ दोनों ही जुड़े रहते हैं। फलतः चिंतन-तंत्र के लिए यह कठिन पड़ता है कि वह सत्य और तथ्य को ठीक तरह समझ सके और उचित-अनुचित का भेद कर सके। अभ्यस्त मान्यताओं के प्रति एक प्रकार की कट्टरता जुड़ जाती है। इसे अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिए परंपराओं के निर्वाह की दुहाई दी जाती है। उसका समर्थन धर्मशास्त्र, आप्तवचन, देशभक्ति आदि के नाम पर किया जाता है और कई बार तो उसे ईश्वर का आदेश तक घोषित कर दिया जाता है।

अपना धर्म श्रेष्ठ दूसरे का निकृष्ट—अपनी जाति ऊँची, दूसरे की नीची। अपनी मान्यता सच और दूसरे की झूठ, ऐसा दुराग्रह यदि आरंभ से ही हो तो फिर सत्य-असत्य का निर्णय हो ही नहीं सकता। न्याय और औचित्य की रक्षा के लिए आवश्यक है कि तथ्यों को ढूँढ़ने के लिए खुला मस्तिष्क रखा जाए और अपने-पराए का—नए-पुराने का भेदभाव न रखकर विवेक और तर्क का सहारा लेने की नीति अपनाई जाए। सत्य को प्राप्त करने का लक्ष्य इस नीति को अपनाने से पूरा हो सकता है। पक्षपात और दुराग्रह तो सत्य को समझने से इनकार करना है। ऐसे हठी लोग प्रायः सत्य और सत्य-शोधकों को सताने तक्र में नहीं चूकते।

टेलिस्कोप के आविष्कारक गैलीलियो ने जब पृथ्वी को गतिशील बताने का सर्वप्रथम साहस किया तो पुरातन पंथी धर्मगुरुओं ने इसे धर्म के विरुद्ध ठहराया। उसे तरह-तरह से सताया गया और जेल में बंद करके सड़ाया गया। सबसे पहले जब पेरिस में रेलगाड़ी चली तो उस प्रचलन का पुरातन पंथियों ने घोर विरोध किया और कहा—जो काम हमारे महान पूर्वज नहीं कर सके, उन्हें करना अपने पूर्वपुरुषों के गौरव पर बट्टा लगाना है। रेलगाड़ी के चलाने वाले जोसफ केग्नार को उस जुर्म में जेल में डाला गया कि वह ईश्वर के नियमों के विरुद्ध काम करता है। इटली में शरीरशास्त्र की शिक्षा किसी समय अपराध थी।

आपरेशन करना पाप समझा जाता था और कोई चिकित्सक छोटा-मोटा आपरेशन भी करता पाया जाता तो उसे मृत्यु दंड सुनाया जाता था।

कारीगर रैगर बेकन ने सर्वप्रथम दो ऐनकों को जोड़कर सूक्ष्मदर्शी यंत्र बनाया था। इस आविष्कार की निंदा की गई। उस कारीगर को इस खतरनाक काम को करने के अभियोग में दस वर्ष की कैद सुनाई गई। बेचारा जेल में ही तड़प-तड़पकर मर गया।

रसायनशास्त्र के कुछ नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के अपराध में संत अरहीनियस को प्राध्यापक के पद से पदच्युत करके एक छोटा अध्यापक बनाया गया और उसे सनकी ठहराकर अपमानित किया गया। विधि का विधान ही समझिए कि वही सिद्धांत आगे चलकर विज्ञान जगत में सर्वमान्य हुआ और उन्हें इसी खोज पर नोबुल पुरस्कार मिला।

डॉ० हार्ले ने जब सर्वप्रथम यह कहा कि रक्त नसों में भरा नहीं रहता, वरन् चलता रहता है तो समकालीन चिकित्सकों ने उसे खुले आम बेवकूफ कहा। ब्रुनो ने जब अन्य ग्रहों पर भी जीवन होने की संभावना बताई तो लोग इतने क्रुद्ध हुए कि उसे जीवित ही जला दिया।

दुराग्रह के अत्याचारों का इतिहास बहुत लंबा और बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। पिछले दिनों यह हठवादिता बहुत चलती रही है। धर्मपरंपरा, देशभक्ति, ईश्वर का आदेश आदि न जाने क्या-क्या नाम इस हठवादिता को दिए जाते हैं और सत्य एवं धर्म की आत्मा का हनन होता रहा है। मानवीय विवेक में निष्पक्ष सत्यशोधक की दृष्टि को ही प्रश्रय मिलना चाहिए। यह तभी संभव है जब धर्म आगे-आगे चले और विज्ञान तथ्यानुयायी बने।

विज्ञान भावनाशील बने और धर्म तथ्यानुयायी

मोटेतौर से प्रतीत होता है कि विज्ञान और अध्यात्म के आधारभूत सिद्धांतों में मौलिक अंतर है। इसलिए उनका समन्वय कदाचित् कभी भी संभव न हो सकेगा। अंतर को देखकर प्रस्तुत निष्कर्ष पर पहुँचने वाले मनीषियों का कहना यह है कि विज्ञान आग्रही नहीं है, वह तथ्यों को खुले मस्तिष्क से तलाश करता है। पूर्वाग्रहों से मुक्त रहता है और जब जो प्रामाणिक आधार मिलते हैं, उनके सहारे सिद्धांतों का निर्धारण करता है। इसके विपरीत अध्यात्म में पूर्वाग्रहों की ही भरमार है। तर्क के लिए गुंजाइश नहीं है। शास्त्र अथवा आप्तपुरुष ही सब कुछ हैं, उन्हीं की खींची रेखाओं की परिधि में घूमने के लिए धार्मिक अथवा अध्यात्मवादी को सीमित रहना पड़ता है। तर्कों के झरोखे में झाँकने वालों की धार्मिकता को पतिव्रत को तोड़ने वाला घोषित कर दिया जाता है। ऐसी दशा में तथ्यों का निर्धारण करने को जब तक दोनों की स्थिति एक न हो, तब तक समन्वय कैसे संभव होगा ? या तो विज्ञान अपने तथ्यों को प्रमाणिकता देने वाली प्रवृत्ति छोड़े अथवा धर्म को परंपरा आग्रह अपनाए रहने से विरत किया जाए, तभी वह स्थिति बनेगी जिसके आधार पर दोनों को साथ चलने अथवा सहयोग करके सत्य की शोध में समन्वित मार्ग अपनाने की बात बन सके।

कथन को सच मानने का मन तभी करता है, जबकि दोनों की मूलप्रकृति को समझने में भ्रम बना रहे। यह अड़चन उथले चिंतन से सही मालूम पड़ती है और उस समय भी ठीक लगती है जब

धर्मपक्ष के विकृत रूप को ही उसका आधारभूत सिद्धांत मान लिया जाए। गहराई में उतरने पर धर्म और विज्ञान दोनों ही ऐसे तथ्यों पर आधारित दीखते हैं, जिन पर अविश्वास करने या मिल-जुलकर साथ-साथ न चल सकने की आशंका करने का कोई कारण नहीं हो।

विकृतियाँ तो न्याय और कानून के क्षेत्र में भी बनी रहती हैं। इससे उनकी उपयोगिता या आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। उत्पादन और व्यवसाय में भी आए दिन बदमाशियाँ चलती हैं, इसी कारण उन कार्यों को बंद तो नहीं कर दिया जाता। धार्मिक क्षेत्र में निहित स्वार्थों को घुस पड़ने और अवांछनीय प्रथा-परंपरा चला देने का अवसर मिल जाता है, जब कि उस क्षेत्र के अनुयायी तर्क और तथ्यों को जानने की आवश्यकता नहीं समझते। यदि वे धर्माध्यक्षों के उद्देश्य और प्रतिपादनों के फलितार्थ पर विवेकपूर्वक विचार करना सीखें तो फिर धर्म-क्षेत्र की उपयोगिता भी विज्ञान क्षेत्र की तरह ही अक्षुण्ण बनी रह सकती है। धर्म की मूलप्रवृति अंधविश्वासी या दुराग्रही नहीं है। जिस श्रद्धातत्त्व के आधार पर अंधेरगर्दी फैलती है, उसका भी आधार श्रेष्ठता के साथ जुड़ा हुआ है। श्रेष्ठता के प्रति प्यार को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा की अवधारणा जहाँ भी करनी हो, वहाँ सर्वप्रथम श्रेष्ठता है या नहीं, इसको कसौटी पर कसना होता है। यह परख जाग्रत रखी जा सके तो श्रद्धा के शोषण की संभावना न रहेगी और धर्म को अवैधानिक, तर्क विरोधी अथवा अप्रामाणिक कहे जाने का अवसर न आने पाएगा।

धर्म भी एक विज्ञान है। चेतना को अनुशासित रखना और उसे सत्प्रयोजनों में नियोजित करना उसका उद्देश्य है। चेतना की सामर्थ्य प्रकृति-क्षेत्र में भरी पदार्थ-संपदा एवं शक्ति धाराओं से किसी भी प्रकार कम नहीं है। प्रकृति संपदाओं को खोज निकालने और उसका सदुपयोग कर सकने की क्षमता पदार्थों में नहीं है। वह तो चेतना ही

कर सकती है। विचारणाएँ, भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ चेतना की ही चमत्कारी धाराएँ हैं। पदार्थों की जड़ता को चेतना जैसी सुखद स्थिति में उभार लाने का श्रेय चेतना को ही है। सर्व विदित है कि विचार-संस्थान की उत्कृष्टता से ही व्यक्ति का अंतरंग आनंदित और बहिरंग समुन्नत बन पाता है। उसमें त्रुटि रहेगी तो विकृत चिंतन के फलस्वरूप मनुष्य उद्विग्न और दरिद्र ही बना रहेगा। पिछड़ेपन और शोक-संकट से उसे छुटकारा मिल ही न सकेगा। भले ही परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हों अथवा साधनों का बाहुल्य सामने प्रस्तुत हो। व्यक्ति को सुव्यवथित बनाए रहना, इस बात पर निर्भर है कि लोक-चेतना का धारा-प्रवाह किस दिशा में चल रहा है। इन तथ्यों पर ध्यान देने से धर्म चेतना को वैज्ञानिक उपलब्धियों की तरह ही श्रेयस्कर माना जाएगा। इतनी बड़ी उपयोगिता यदि अवैज्ञानिक, अप्रामाणिक मानी जाने की स्थिति में बनी रहे तो उसे मनुष्य जाति का दुर्भाग्य कहा जाएगा। धर्म को प्रखर बनाए रहने के लिए उसके साथ यथार्थवादी विज्ञान दृष्टि का जुड़ा रहना आवश्यक है। यह कार्य दोनों के समन्वय से ही हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार विज्ञान को भाव-संवेदना को अपनाकर चलना होगा जो विचार-संस्थान की नहीं, भाव-संस्थान की उत्पत्ति कही जा सकती है। विज्ञान को मात्र बुद्धिवादी बने रहने से भी उसकी उपलब्धियाँ तो मिलती रह सकती हैं, पर उपयोगिता नष्ट हो जाएगी और वे सूत्र सूख जाएँगे, जहाँ से अन्वेषणों के मूलभूत स्फुरण का उद्‌भव होता है।

आविष्कारों के बारे में समझा यह जाता है कि वे प्रयोगशालाओं की देन हैं अथवा वे बुद्धिमत्ता के कारण उपलब्ध हुए हैं, पर बात इतनी उथली नहीं है। प्रत्येक आविष्कार की संभावना का आरंभिक विचार अंत:स्फुरण से उठा है। बुद्धि का काम पूर्व प्रचलनों का ऊहापोह करना है। पूर्ववर्ती अस्तित्व के बिना उसकी दौड़ आगे बढ़ती ही नहीं। मस्तिष्कीय संरचना में ऐसे विचारों के उद्‌भव की

गुंजाइश नहीं है जिन्हें मौलिक कहा जा सके। विज्ञान का विस्तार, बुद्धि और साधन-सामग्री के सहारे होने की बात सच है, पर यह सच नहीं है कि आविष्कारों से भी पूर्व अंत:करण में उठने वाली अंत:स्फुरणाएँ भी मस्तिष्क ही उगा सकता है। यदि ऐसा होता तो पूर्ववर्ती बुद्धिमानों ने उन सब अविष्कारों को बहुत पहले ही कर लिया होता, जो अब क्रमश: प्रत्यक्ष होते चले जा रहे हैं। न्यूटन से पहले भी चिरकाल से पेड़ों पर से फल जमीन पर गिरते हुए मूर्खों से लेकर विद्वानों तक सभी देखते रहे हैं, पर उतने भर संकेत से पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति का आभास पाना, विश्वास करना और अंतत: उसे खोज निकालना न्यूटन की बुद्धि का नहीं अंत:स्फुरणा का आधार है।

इसी प्रकार अन्यान्य सभी आविष्कारक अपने प्रारंभिक रूप में जब चिंतन-क्षेत्र में उतरे, तब उनका अवतरण स्थल उस परत से कहीं गहरा था, जिसे मस्तिष्क संपदा कहते हैं। यह अंत:करण ही है जो न केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का आधारभूत कारण है, वरन् मानवीय व्यक्तित्व की उत्कृष्टता और सामाजिक संगठनों का उद्‌गम स्रोत भी यही है। यदि अंत:करण तत्त्व को मनुष्य से छीन लिया जाए, तो उसमें न वैज्ञानिक शोधों की आरंभिक अनुभूति पाने की क्षमता रहेगी और न पशु आवरणों से ऊँचे उन आधारों को अपनाने की आशा की जा सकेगी, जिसे मानवीय संस्कृति कहा जाता है। सर्वतोमुखी प्रगति का श्रेय जितना शारीरिक और मानसिक श्रमशीलता को दिया जाता है, उससे भी अधिक संस्कृति को मिलना चाहिए।

संस्कृति भी वैज्ञानिक उपलब्धि है। अंत:स्फुरणा उत्पन्न करने वाला अंतराल प्रकृतिप्रदत्त अनुदान नहीं है, वरन् विज्ञान की तरह ही मानवीय पुरुषार्थ का प्रतिफल है। धर्मतत्त्व को विज्ञान की आत्मा में गुँथा देखा जा सकता है। ऐसा न होता तो वैज्ञानिकों में भी स्वार्थपरता और विलासिता जैसे दुर्गुण छाए रहते और वे शोध-प्रयत्नों में योगियों जैसी तत्परता और तन्मयता का समावेश न कर सके होते। विज्ञानी में

योगी और तपस्वी दोनों के लक्षण पाए जाते हैं। वह सत्य का शोधक भी होता है और व्यक्तिगत ललक-लिप्साओं से ऊँचा उठकर शोध-प्रयत्नों में दत्तचित्त रहने वाला तपस्वी भी होता है। इन प्रयासों में उसे जो संकट सहने और खतरे उठाने पड़ते हैं, वे चेतना की उत्कृष्टता के बिना संभव नहीं हो सकते। विज्ञानी भले ही ईश्वरवादी नहीं, धार्मिक तो निश्चित रूप से होता है। भले ही वह किसी मत-संप्रदाय का अनुसरण न करता हो।

धर्म के बिना विज्ञान अपंग है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा। दोनों परस्पर सहयोग न करेंगे, तो वे अपूर्ण ही बने रहेंगे और उतने उपयोगी सिद्ध न हो सकेंगे, जितना कि मिल-जुलकर काम करने पर हो सकते हैं। दोनों के बीच जो दिशा विरोध दीखता है, वह सतही है। गहराई तक उतरने पर भिन्नता घटती और समता बढ़ती जाती है। गंगा और यमुना का मध्यांतर लंबा है, पर गंगोत्री और जमुनोत्री की दूरी कम है। यदि हिमालय की भीतरी जलसंपदा तक पहुँचा जा सके तो प्रतीत होगा कि दोनों के उद्गम भिन्न स्थानों पर होते हुए भी उनकी धाराएँ एक ही विशाल जलाशय से अनुदान प्राप्त करती हैं। धर्म और विज्ञान की प्रवाहमान धाराएँ अलग-अलग हैं, उनके कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं। इतने पर भी दोनों के मध्य मौलिक समानता विद्यमान है और दोनों को पूर्ण बनने के लिए पारस्परिक सहयोग की नितांत आवश्यकता है।

अध्यात्म-क्षेत्र में जिन रहस्यमयी उपलब्धियों की चर्चा होती रहती है, उन सिद्धियों और चमत्कारों का आधार विज्ञान की किसी ऐसी धारा के साथ कल नहीं तो परसों जुड़ा हुआ पाया जाएगा, जो प्रकृति के अंतराल में विद्यमान तो है, पर अभी प्रकाश में नहीं आई है। यहाँ अद्भुत का कोई अस्तित्व नहीं। सब कुछ सुव्यवस्थित है। जिस व्यवस्था के कारणों को हम नहीं जान पाते वही अद्भुत लगता है। आरंभ में अग्नि का प्रकटीकरण भी दैवी चमत्कार था। पीछे उसके रहस्य विदित हो जाने पर प्रकृति का एक सामान्य उपक्रम उसे मान

लिया गया। ठीक इसी प्रकार वैयक्तिक चेतना की गहरी परतों से जब कभी कोई स्रोत फूट पड़ते हैं, तो दैवी प्रतीत होते हैं। अनुसंधान को अपनाए रहा जाए तो उस सूत्र के सहारे वहाँ पहुँचने में सफलता मिलती है, जहाँ चेतना की किन्हीं गहरी परतों से वैयक्तिक चमत्कारों का उत्पादन होता है। इसी प्रकार इस विशाल ब्रह्मांड में संव्याप्त चेतना के समुद्र का स्वरूप और उपयोग समझा जा सके तो वह आधार मिल सकता है जिसे दिव्य लोकों से बरसने वाले वरदानों की संज्ञा दी जाती है। वैयक्तिक विभूतियों और दैवी अनुकंपा की चमत्कारी सिद्धियों की चर्चा होती रहती है और उन्हें अभौतिक कहा जाता रहता है, किंतु तथ्य यह है कि जो इंद्रियगम्य या बुद्धिगम्य है वे सभी भौतिक हैं। अध्यात्म के नाम पर चलने वाली साधनाओं को अथवा उपलब्धियों को भौतिक क्षेत्र से बाहर समझना भूल हैं। पदार्थों की सहायता से जो किया जाता है अथवा जिनकी अनुभूति मन समेत ग्यारह इंद्रियों द्वारा होती है। उन्हें अभौतिक कहने का साहस बालबुद्धि तो कर सकती है, पर तत्त्वदर्शन के गले उसे नहीं उतारा जा सकता। इसी प्रकार विज्ञान के उद्भव, अनुसंधान, अभिवर्द्धन और उपयोग में आदर्शों को तिलांजलि नहीं दी जा सकती है। इस प्रकार धर्म और विज्ञान एक ही उदर से जन्मे दो सहोदर भाइयों की तरह समझे जा सकते हैं और उनमें परस्पर सहयोग से मिलकर काम करने की पूरी गुंजाइश है। देव और दानवों के सहयोग से समुद्र-मंथन किए जाने और उसके फलस्वरूप चौदह रत्न मिलने की पौराणिक गाथा को अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए पाया जा सकता है।

विज्ञान अब विगत शताब्दी की तरह अप्रत्यक्ष की सत्ता से इनकार करने में दुराग्रही नहीं रहा है। मेटा-फिजिक्स और पैरासाइका-लॉजी की अगणित शाखा-प्रशाखाएँ इस अनुसंधान में संलग्न हैं कि अतींद्रिय अनुभूतियों के मूल में किन तथ्यों का समावेश है। गणितज्ञ सी० ए० डार्विन ने अपने ग्रंथ 'दि न्यू कॉन्सेन्स ऑफ मैटर' में कहा है—"अपने जमाने में वैज्ञानिक क्षेत्र की यह एक बड़ी क्रांति है कि

जो अप्रत्यक्ष है, उसकी सत्ता को भी अनुसंधान के क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है।''

विज्ञानी हर्बर्ट डिगल ने स्वीकारा है कि वे दिन बीत गए जब विज्ञान का क्षेत्र मात्र तथ्यों तक सीमित था। अब उसका कार्य-क्षेत्र कहीं आगे बढ़ गया है और रहस्यों को भी अनुसंधान के उपयुक्त आधारों का मान लिया गया है। अंतरिक्षविज्ञानी एडिगन के कथनानुसार विज्ञान के रहस्यों को भी तथ्यों में सम्मिलित कर लिया है। इसका अर्थ उनने अपने में अध्यात्म के सुरक्षित सीमा-क्षेत्र तक पहुँचने और उसमें प्रवेश करने की हिम्मत जुटा ली है।

इन दिनों विज्ञान ने विधिवत् रहस्यवाद को अपने कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया है, पर पूर्ववर्ती विज्ञानवेत्ता उस संदर्भ में सर्वथा अनुदार नहीं रहे हैं, वे अपने शोध-प्रयत्न धर्म और विज्ञान—दोनों ही दिशाओं में नियोजित किए रहे हैं और उनके समन्वय की संभावना पर विश्वास करते रहे हैं। पैरासेल्सस, ब्रूनो, पैस्कॉल, न्यूटन आदि की गणना इसी वर्ग के वैज्ञानिकों में की जा सकती है। प्लेटो अपने समय का प्रख्यात समन्वयवादी था। उसने दार्शनिक चर्चा करने के लिए आने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह शर्त रखी थी कि उनका गणित का जानकार होना आवश्यक है। उसके दरवाजे पर एक तख्ती टँगी रहती थी, जिस पर लिखा था—''जिसे गणित न आता हो वह भीतर न आए।''

धर्म को विज्ञान सम्मत अर्थात बुद्धिसंगत बनाने और तथ्यों को कसौटी पर कसने का प्रतिपादन करने वाले अनेक सुधारक समय-समय पर होते रहे हैं। धर्म क्षेत्र में चिरकाल से चली आ रहीं क्रांतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि अंधानुसरण नहीं, तथ्यों की कसौटी पर श्रद्धा और परंपरा को कसा जाना आवश्यक है। भगवान बुद्ध की ख्याति इसी रूप में थी कि उनने बुद्धिवाद का प्रतिपादन किया था और तथ्यों की कसौटी पर खरी न उतरने वाली परंपराओं को अस्वीकार करने के लिए जनमानस को भड़काया था। इस शृंखला

में प्राचीन एवं अर्वाचीन समाज सुधारकों को इसी वर्ग में गिना जा सकता है।

विग्रह का अंत और समन्वय का आरंभ हर क्षेत्र में आवश्यक समझा जा रहा है और उसके लिए सर्वत्र अपने-अपने स्तर के प्रयत्न अपने-अपने ढंग से चल रहे हैं। धर्म और विज्ञान के सहयोग की आवश्यकता भी युग की पुकार है। हमें इच्छा और अनिच्छा से इस दिशा में बढ़ना ही होगा। विज्ञान को भावनाशील और धर्म को तथ्यानुवर्ती होने की आवश्यकता है। इस यथार्थता को जितनी अच्छी तरह समझा जाने लगेगा, उतनी ही तेजी और मजबूती के साथ दोनों महान शक्तिधाराओं के सुखद समन्वय का दिन निकट आता चला जाएगा।

"पाश्चात्य संस्कृति के पिछले शताब्दी के विचारकों के मतानुसार आदिमकाल से मनुष्य ने पशु के आहार, निद्रा, भय, मैथुन, की सीमित परिधि से आगे बढ़कर जब अपने इर्द-गिर्द के वातावरण को समझने का प्रयत्न किया होगा तो उसे भय लगा होगा। आग का गोला सूर्य, आकाश में चमकने वाले चाँद-तारे, दिन-रात का चक्र, बादलों की घटाएँ, बिजली की कड़क, नदियों की चाल, समुद्र की लहरें, सिंह और सर्पों के उत्पात, जन्म और मरण जैसी विस्मयजनक हलचलों को उसने किन्हीं अदृश्य अतिमानवों की करतूत समझा होगा और उनके कोप से बचने एवं सहायक बनाने के लिए पूजा उपक्रम का कुछ ढंग सोचा होगा। संभवत: यहीं से उपासनात्मक अध्यात्म का आरंभ हुआ है। एकाकी स्वेच्छाचार ने समूह में रहने की प्रवृत्ति अपनाई होगी, अन्यथा सहयोग का अभिवर्द्धन और टकराव का समाधान ही संभव न होता। धर्म यहीं से चला है।" तथ्य और सत्य का मूल स्वरुप क्या था, यह तो साधना-शोध का विष्य है, किंतु सत्य और तथ्य तक पहुँचने के लिए श्रद्धायुक्त जिज्ञासा एवं निरंतर अध्यवसाय का सहारा लेकर ही अध्यात्म-धर्म की खोज की गई थी, ऐसा प्राचीन ग्रंथों को देखकर लगाता है। अब

हम धर्म और अध्यात्म को दो धाराओं में बाँटते हैं, पूर्वकाल में दोनों एक थे।

भय के बाद लोभ की प्रवृति पनपी। उसने अतिमानवों से, देवताओं से अभीष्ट लाभ पाने की आशा रखी होगी। उनसे अवरोधों को दूर करने और वांछित फल प्रदान करने का सहयोग माँगा होगा। तब मानव अपने पुरुषार्थ की तुच्छता और आकांक्षाओं की प्रबलता का वह तारतम्य नहीं बिठा पा रहा होगा, जिसे पशु-पक्षी सहज ही बिठा लेते हैं। उपलब्ध परिस्थितियों और निजी आकांक्षाओं का वे सहज ही तालमेल बिठा लेते हैं और जो कुछ है उसी में संतुष्ट रहकर अपनी प्रकृति को तदनुरूप ढाल लेते हैं। मनुष्य की आकांक्षाएँ बढ़ीं और समाधान सीमित रहे। ऐसी परिस्थिति में किन्हीं अदृश्य अतिमानवों का, देव-दानवों का पल्ला पकड़ना उसने उचित समझा होगा। देवाराधन का स्वरूप उस विकास युग में भय से थोड़ा-थोड़ा छुटकारा पाने और लोभ-लालच की परिधि में प्रवेश करने का बना होगा। स्वर्ग-नरक, शाप-वरदान, जिन अदृश्य शक्तियों द्वारा दिया जाता है, उनके कोप से बचना और प्रसन्न करके लाभान्वित होना तब एक दिव्य कौशल रहा होगा। उन्हीं दिनों मंत्र-तन्त्र के—देव परिकर के रूप, विधान गढ़े गए। उन्हें देवकृत माना जाता रहा इसी आधार पर अमुक विधान का खंडन अमुक का मंडनक्रम चलता रहा।

धर्म के विकास का इतिहास मनुष्य की चेतना के चिंतन के साथ-साथ कदम मिलाकर चलता आया है। भय और लोभ की व्यक्तिवादी आकांक्षाओं से आगे बढ़कर मनुष्य अधिकाधिक समाज पर निर्भर होते चलने की स्थिति में यह समझने के लिए बाध्य हुआ कि समूहगत हलचलें मनुष्य को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। पारस्परिक सहयोग-असहयोग के, नीति-पालन और उल्लंघन के क्रियाकलाप अधिकाधिक सुविधा-असुविधा उत्पन्न करते हैं। सुख और दुःख यही परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। अतएव व्यक्ति और समाज की नीति-मर्यादाओं को अधिक सबल

अधिक परिष्कृत बनाया जाए। इस मान्यता ने नीति के, उपकार के तत्त्वज्ञान को धर्म में सम्मिलित कियां और इसके लिए आचारशास्त्र का विकास हुआ। धर्म की व्याख्या, नीति-पालन एवं उदारता के लिए उत्साह-प्रदर्शन के रूप में की गई। यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कदम था।

इससे आगे और भी विकसित स्थिति आती है, जब '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' की—'**सूत्रे मणिगणा इव**' की मान्यता की आधारशिला रखी गई। एक ही आत्मा सबमें समाई हुई है—सबमें अपनी ही सत्ता जगमगा रही है-अपने भीतर सब है—सबमें एक ही आत्मा का प्रतिबिंब हैं। सब अपने और 'अपना' सबका है। यह विश्वमानव की, विश्व परिवार की एकात्म अद्वैत बुद्धि सचमुच धर्म की अद्‌भूत और अति उपयोगी देन है। बढ़ती हुई समाज निर्भरता का संतुलन इसी मान्यता के साथ बैठता है। बढ़ी हुई जनसंख्या—वैज्ञानिक उपलब्धियों ने संचार और द्रुतगामी वाहनों के जो साधन प्रस्तुत किए हैं, उनने सुविस्तृत क्षेत्र में फैली हुई दुनिया का फैलाव सिकोड़कर रख दिया है। अब कुछ घंटों में ही धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा जा सकता है। कोई देश अपने पड़ोसियों के कारण ही नहीं—दूर देशों की आंतरिक परिस्थितियों के कारण भी प्रभावित होता है। व्यक्ति की प्रगति और अवगति अब उसके निजी पुरुषार्थ पर निर्भर नहीं, वरन् सामाजिक परिस्थितियाँ उसे बनने, बदलने के लिए विवश करती हैं। व्यक्ति की सत्ता समाज की मुट्ठी में केंद्रित होती चली जा रही है। व्यक्ति पूरी तरह समाज यंत्र का पुरजा मात्र बन गया है। इन परिस्थितियों में यदि व्यक्ति को समाजनिष्ठ बनने के लिए कहा जाए, उसे अपनी प्रगति-अवगति को समाज के उत्थान-पतन के रूप में जोड़ने के लिए कहा जाए तो यह सर्वथा उचित और सामयिक है।

जो परिस्थितियाँ आज अनिवार्य हो गई हैं, कुछ समय पहले ही उनकी संभावना दूरदर्शियों ने भाँप ली थी और धर्म एवं अध्यात्म को

अधिकाधिक समाजनिष्ठ बनाना आरंभ कर दिया गया। अहंकार को, स्वार्थ को, परिग्रह को, घृणा-वासना को त्यागने के लिए कहने का तात्पर्य व्यक्तिवाद की कड़ी पकड़ से अपनी चेतना को मुक्त करना ही हो सकता है। सेवा, परोपकार, जन-कल्याण, दान-पुण्य, त्याग-बलिदान के आदर्श मनुष्य को समाजनिष्ठ बनाने के लिए विनिर्मित हुए हैं। व्यक्तिवाद को झीना करने और समाजवाद को परिपुष्ट करने के लिए सुविकसित अध्यात्म एक अच्छी पृष्ठभूमि तैयार करता है। उसमें संयम की, तप की, तितिक्षा की, पवित्रता की,मितव्ययता की, शालीनता की, सज्जनता की, संतोष और शांति की वे धाराएँ सम्मिलित की गई हैं, जो मनुष्य को अपने लिए अपनी शक्तियों का न्यूनतम भाग खरच करने की प्रेरणा देती है और तन-मन-धन का जो भाग इस नीति को अपनाने के कारण बचा रहता है, उसे जन-कल्याण में खरच करने की ओर धकेलती हैं।

ईश्वर का स्वरूप भी अब भयंकर, वरदाता, नीति-निर्देशक की क्रमिक भूमिका से आगे बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति पर आ पहुँचा है कि हम विराट ब्रह्म के विश्व दर्शन के रूप में उसकी झाँकी-कर सकें और श्रद्धा-विश्वास जैसे उत्कृष्ट चिंतन को भवानी-शंकर की उपमा दे सकें। अग्निहोत्र की व्याख्या यदि जीवन यज्ञ के—सर्वमेध के साथ जोड़ी जाने लगी है तो यह अत्यंत ही सामयिक परिभाषा का प्रस्तुतीकरण है। क्रियाकांड को यदि भाव-परिष्कार का प्रतीक संकेत कहा जाए, तो वस्तुत: यह प्राचीन ईश्वर की अविकसित मन:स्थिति को आधुनिक ईश्वर की परिष्कृत चेतना ही कहा जाएगा। अब प्रसाद खाकर या प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होने वाले ईश्वर की मान्यता का स्वरूप बदल रहा है। प्रतिमाओं का दर्शन करने, नदी-तालाबों में नहाने, मंत्रों के जपोच्चार से चित्र-विचित्र कर्मकांडों से ईश्वर के प्रसन्न होने की बात पर केवल बहुत पिछड़े लोग ही विश्वास करते हैं। विचारशील वर्ग का ईश्वर उत्कृष्ट चिंतन और

आदर्श कर्तृत्व के साथ एकाकार हो गया है और उसकी पूजा श्रेष्ठ व्यक्तित्व एवं समाज के लिए प्रस्तुत किए गए अनुकरणीय अनुदानों के रूप में ही मानी जानी जा रही है। ईश्वर के प्रति यह विकसित धारणा मनुष्य जाति के साथ-साथ प्रगति-पथ पर बढ़ता हुआ साहसिक चरण है।

मध्ययुग में ईश्वर को एक सर्वतंत्र, स्वतंत्र सत्ता रूप में देखा गया। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि वह जिस पर चाहे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे तथा अप्रसन्न होकर जिसे चाहे शाप देना ही उसका काम है। भेंट-पूजा, स्तवन आदि की वह मनुष्य से आकांक्षा करता था। यह मान्यता अब विकसित होकर स्वस्थ रूप में सामने आई है। अब नीति-पालन और परोपकार को ईश्वर की प्रसन्नता का आधार समझा जाने लगा है। ईश्वर को एक नियम—एक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस व्यवस्था में समस्त जड़-चेतन जकड़ा है। यहाँ तक कि ईश्वर ने अपने को भी नियम-व्यवस्था के बंधनों में बाँध लिया है। आधुनिक मान्यता ईश्वर के प्रति यह बन चली है कि अब उसे पूजा-उपचार मात्र से नहीं, वरन सद्भाव संपन्न एवं सत्कर्मपरायण व्यक्तित्व के आधार पर ही प्रभावित किया और पाया जा सकता है।

धर्म और ईश्वर जिस क्रम से विकास-पथ पर चल रहे हैं उसे देखते हुए अगले दिनों नास्तिक और आस्तिक का झगड़ा दूर हो जाएगा। धर्म और विज्ञान के बीच जो विवाद था उसका हल निकल आएगा। सांप्रदायिक विद्वेष की भी गुंजाइश न रहेगी। पिछले और पिछड़े संप्रदाय अपने-अपने ईश्वरों के अलग-अलग आदेशों को पृथक प्रथा-परंपराओं के रूप में मानते थे और मतभेद रखने वालों को तलवार के घाट उतारते थे। अब वैसी गुंजाइश नहीं रहेगी। सद्भावना एवं सज्जनता की परिभाषाएँ यों अभी भी कई तरह से की जाती हैं, पर उनमें इतना अधिक मतभेद नहीं है, जिसका समन्वय न किया जा सके।

दुनिया अब एक धर्म, एक आचार, एक संस्कृति, एक राष्ट्र, एक भाषा के आधारों को अपनाकर एकता की ओर चल रही है। ऐसी दशा में एक सर्वमान्य ईश्वर और उसका एक सर्व समर्थित पूजा विधान भी होना ही चाहिए। अब इस दिशा में अधिक आशाजनक स्थिति उत्पन्न होने जा रही है। लगता है धर्म और ईश्वर अब एक हो जाएँगे। पिछले दिनों ईश्वर अलग था, धर्म उसे प्रसन्न करने की प्रक्रिया थी। अब दोनों मिलकर एक हो जाएँगे। धार्मिक ही ईश्वरभक्त माना जाएगा और ईश्वरभक्त को धार्मिक बनना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में इसे अद्वैत सिद्धि कह सकते हैं। अनेकता और बहुरूपता के कारण जो मतिभ्रम और विद्वेष उत्पन्न होता है, वह जब संसार के विविध क्षेत्रों में से मिटाया जा रहा है तो फिर ईश्वर और धर्म का क्षेत्र भी क्यों अछूता रहेगा। धर्म और कर्म का मर्म समझने वाले ब्रह्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को निर्विवाद स्थिति तक पहुँचा कर ही रहेंगे।

यही बात विज्ञान के लिए भी है। उसे भी अब मात्र मनुष्य की पार्थिव इंद्रियों की सुख-सुविधा तक ही सीमित न रहकर अंत:करण की शांति को भी एक प्रबल पक्ष के रूप में स्वीकार करना चाहिए तथा अपनी रीति-नीति ही नहीं, गतिविधियाँ भी इस तरह निर्धारित करनी चाहिए जिसमें मूल जीवनसत्ता और उसकी अपेक्षाओं-आकांक्षाओं की अवहेलना न हो, यह बात विज्ञान और धर्म के पारस्परिक गठबंधन से ही संभव है।

धर्म का उद्देश्य-व्यक्तित्व का परिष्कार

मनुष्य जीवन में सुख-शांति की उपलब्धि के लिए जो सबसे अधिक आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व है, उसे लोग धर्म के नाम से जानते हैं। सदाचार एवं कर्तव्यपालन की प्रेरणा, 'जिओ और जीने दो' का संदेश धर्म की आत्मा के पर्याय हैं। धर्म का अर्थ किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रकृति, गुण, कर्म एवं स्वभाव है। कवींद्र-रवींद्र ने इसकी शाश्वत अनुभूति कर अभिव्यक्त किया है कि—'धर्म अंत: प्रकृति है, वही समस्त वस्तुओं का ध्रुव सत्य है। धर्म ही चरम लक्ष्य है, जो हमारे अंदर कार्य करता है।' अतएव यह कहा जा सकता है कि जिस पथ पर चलकर अपने अभीष्ट की उपलब्धि संभव हो उसे ही धर्म कहते हैं, क्योंकि धर्म का उद्देश्य मानव जीवन को पथ-भ्रष्ट होने से बचाना है। इसलिए धर्म को जीवन का प्राण ही कहना चाहिए। धर्म का अभाव मनुष्य को पशु से भी गया बीता बना देता है, बल्कि अधार्मिक व्यक्ति को पशु कहना, पशु का अपमान करना है; क्योंकि पशु का भी तो अपना धर्म होता है, जिसे पाशविक धर्म कहा जाता है, किंतु मनुष्य यदि मानवीय धर्म का पालन नहीं करता अथवा अपने धर्म-कर्तव्य का परित्याग कर देता है तो उसे हेय दृष्टि से ही देखा जाता है। समादरणीय व्यक्ति अथवा सम्मान के अधिकारी व्यक्ति वही हैं, जो धर्म-कर्तव्य से विमुख नहीं हैं। शास्त्रोक्ति है—"जो धर्म का पालन करता है उसकी धर्म ही रक्षा करता है, पर जो उसे नष्ट कर देता है, उसका नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश कर देता है।" इस सिद्धांत में दो मत नहीं हो सकते। जो व्यक्ति धर्म से

विमुख हो जाता है। वह श्री समृद्धियों एवं विभूतियों से वंचित हो जाता है। दुःख, दारिद्र्य एवं दुर्भाग्य धर्म विमुख के संगी-सहचर बन जाते हैं। नारकीय यंत्रणा की अग्नि में वे सतत जलते एवं **'येन केन प्रकारेण'** जिंदगी के दिन पूरे करते रहते हैं।

धर्म का निवास वहाँ होता है, जहाँ सदाचार एवं कर्तव्यपालन का समादर किया जाता है, इसलिए सदाचार एवं कर्तव्यपालन को धर्म के प्रधान प्रतीक कहना अतिशयोक्ति न होगी। धर्म की भव्य संरचना हेतु मानवोचित आदर्शों एवं उत्तरदायित्वों को सुचारु रूप से संपादित करने की महती आवश्यकता होती है।

आस्तिकता, उपासना, शास्त्र-श्रवण, पूजा-पाठ, कथा-कीर्तन, सत्संग, प्रवचन, व्रत, उपवास, नियम, संयम, तीर्थयात्रा, पर्व एवं संस्कार आदि समस्त प्रक्रियाएँ धर्म भावना को परिपक्व करने के उद्देश्य से विनिर्मित हुई हैं, ताकि मनुष्य उपने जीवन के महारिपुओं-वासना एवं तृष्णा, लोभ, मोह तथा आकर्षणों एवं प्रलोभनों से मुक्त होकर अपने कर्तव्य-पथ पर अबाध गति से अग्रसर हो सके। साथ ही यदि वह इन धर्म के साधनों को साध्य मान बैठने की गलती कर लेता है, तो उसके समस्त धार्मिक कर्मकांड, जो धर्म के कलेवर मात्र हैं—धर्म के प्राण से कोसों दूर ले जाते हैं। कलेवर अपने आप में पूर्ण नहीं है, कलेवर का महत्त्व प्राण से है और प्राण का कलेवर से। सुस्पष्ट है कि दोनों एकदूसरे के परस्पर पूरक हैं। साधन और साध्य का एकदूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है। साधन को मात्र साधन ही समझा जाए, साधनोचित महत्त्व ही प्रदान किया जाए।

ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापक, निष्पक्ष, न्यायकारी तथा सुनिश्चित कर्मफल प्रदान करने वाली, सृष्टि की नियामक एवं नियंत्रक है। उसकी अनुभूति अपने इर्द-गिर्द करना ही इस चिंतन, मनन, ध्यान एवं भजन का उद्देश्य है। पाप कर्मों के दंड से भयभीत रहें और मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर उसके कठोर प्रतिफल का ध्यान रखते हुए अनीति एवं अन्याय न करें। उपासक अथवा धर्मभीरु के

लिए यह अनिवार्य आवश्यकता है कि उसकी ईश्वरीय न्याय और कर्मफल की सुनिश्चितता में आस्था हो, अन्यथा उसकी समस्त भक्ति भावना निरर्थक ही सिद्ध होगी। धर्म कर्मों से जो स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, वरदान, देवकृपा, सुख-शांति, समृद्धि, साक्षात्कार आदि लाभ होते हैं, वह केवल उन्हीं के लिए संभव हैं, जिन्होंने धर्म के मर्म एवं उसके वास्तविक स्वरूप को भली भाँति समझ लिया है, साथ ही उसे अपने जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान कर अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र को उज्ज्वल बनाया है। समस्त विभूतियाँ भले ही वे लौकिक या लोकोत्तर हों, सदाचार द्वारा ही सुलभ होती हैं। यही कारण है कि धर्म को सदाचार का प्रेरणोत्पादक तत्त्व माना गया है। यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि धर्म विभूति एवं सुख-शांति का जनक है। सदाचार के प्रति अनास्थावान होकर कोई व्यक्ति मात्र बाह्य क्रियाकलापों से सुख-शांति का स्वप्न देखे तो उसे मात्र दिवास्वप्न की संज्ञा दी जाएगी। सदाचार में आस्था, कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों और मर्यादाओं का विधिवत् पालन ही धर्म की आधारशिला है। सदाचार को धर्म का मूल कहा जा सकता है। मूलोच्छेदन के बाद किसी वृक्ष में लगने वाले फूलों और फलों की आशा करना निरर्थक है।

मध्यकाल के अंधकार युग में यह भ्रांति फैली कि अमुक धार्मिक कर्मकांड करने मात्र से समस्त पापों से मुक्ति मिल जाती है। आज भी लोग उसी लकीर के फकीर बने हुए हैं। इस प्रकार की निराधार मान्यताएँ फैलाने में तत्कालीन पुरोहित वर्ग का अपना वर्चस्व बनाए रखने वाला स्वार्थ प्रधान था। जिसके माध्यम से जीविकोपार्जन हेतु दान दक्षिणा और पूजा-प्रतिष्ठा यजमानों से सहज रूप में प्राप्त हो जाती थी। जो लाभ सदाचार की कष्टमय कसौटी पर खरा उतरकर उपलब्ध होता है, उसे मात्र बाह्य प्रक्रियाओं से पुण्य-लाभ के प्रलोभन देकर सस्ता बना दिया।

मनुष्य के उत्थान एवं पतन का कारण उसकी भावना होती है, अतएव भावना स्तर को मानवीय आदर्शों के अनुरूप बनाए रहने में

धर्म के समस्त क्रियाकलाप सहायक होते हैं। इसी कारण भावना को प्रधानता मिली हुई है। आदर्श जीवन एवं उत्कृष्ट विचार ही सजीव धर्म की शाश्वत साधना है।

प्राचीनकाल में संत, ब्राह्मण और साधु अपरिग्रहशील जीवनयापन करते थे, फलस्वरूप लोकसेवा का उत्तरदायित्व अपने कंधे पर उठाने में समर्थ होते थे। उनकी त्याग भावना उन्हें लोकश्रद्धा का पात्र बना देती थी। दान-दक्षिणा से प्राप्त धन को वे अपने व्यक्तिगत कार्य में व्यय न करके लोक-कल्याण के कार्य में लगा देते थे। जिस प्रकार आजकल लोकनायकों को रक्षा कोष आदि के लिए दी जाने वाली थैलियाँ उनकी व्यक्तिगत निधि नहीं मानी जातीं। प्राप्तकर्ता उसे राष्ट्रीय हित के कार्यों में व्यय हेतु समर्पित कर देते हैं, उसी प्रकार प्राचीनकाल में धर्मात्मा, लोकसेवी साधु, ब्राह्मण उदर पूर्ति के उपरांत शेष राशि को सद्ज्ञान, सद्भाव, सदाचार एवं सत्प्रवृतियों के पुण्य-प्रसार में लगा देते थे। मंदिर जन-जागरण के केंद्र थे, किंतु आज मठों एवं मंदिर् में प्रचुर संपत्ति विद्यमान होने के बाद भी उसका सदुपयोग नहीं हो पा रहा है, जनमानस का परिष्कार एवं उत्कर्ष, सांस्कृतिक लोक-शिक्षण में यदि यह धर्म निधि सुलभ हो सकी होती, तो आज हमारी स्थिति कुछ और होती, तब आज का वातावरण ही भिन्न प्रकार का परिलक्षित होता।

न केवल भारत अपितु अन्य देशों में भी धर्म के विषय में जितना मतभेद देखने में आता है, उतना और किसी विषय में शायद ही मिल सके। यह भेद अज्ञानियों में ही नहीं, समझदार और उन्नतिशील लोगों में भी देखने में आता है। हिंदू गौ का एक रोम भूल से भी दूध के साथ पेट में चले जाने पर घोर पाप समझते हैं, मुसलमान उसी गाय को खुदा के नाम पर काटकर खा जाने पर बड़ा पुण्य बतलाते हैं। ईसाई बिना पाप-पुण्य के झगड़े में पड़े, नित्य ही उसके मांस को एक साधारण आहार की तरह ग्रहण करते हैं। यहूदी भगवान की उपासना करते समय मुँह के बल लेट जाते है, कैथोलिक

ईसाई घुटनों के बल झुकते हैं, प्रोटेस्टेंट ईसाई कुरसी पर बैठकर प्रार्थना करते हैं, मुसलमानों को नमाज में कई बार उठना-बैठना पड़ता है और हिंदुओं की सर्वोच्च प्रार्थना वह है, जिसमें साधक ध्यानमग्न होकर अचल हो जाए। यदि यह कहा जाए कि इन सबमें एक ही उपासना विधि ठीक है, दूसरी सब निकम्मी है तो भी काम नहीं चलता। अन्य धर्मों में भी अनेक व्यक्ति बड़े संत, त्यागी महात्मा हो गए हैं। धार्मिक-क्षेत्र के इसी घोर वैषम्य को देखकर 'ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ रिलिजस बिलीफ' धार्मिक विश्वास की उत्पत्ति और विकास) नामक ग्रंथ के लेखक एस० बैरिंग गाल्ड ने लिखा है—

संसार में समस्त प्राचीन युगों से कई ऐसे धार्मिक विश्वास पाए गए हैं, जो एकदूसरे से सर्वथा विपरीत हैं और जिनकी रस्मों तथा सिद्धांतों में जमीन-आसमान का अंतर है। एक प्रदेश में मंदिर का पुजारी देवमूर्ति को मानव रक्त से लिप्त करता है और दूसरे ही दिन अन्य धर्म का अनुयायी वहाँ आकर उसे तोड़कर गंदगी में फेंक देता है। जिनको एक धर्म वाले भगवान मानते, उन्हीं को दूसरे धर्मानुयायी शैतान कहते हैं। एक धर्म में धर्म-याजक भगवान की पूजा की उद्देश्य से बच्चों को अग्नि में डाल देता है और दूसरे धर्म वाला अनाथालय स्थापित करके उनकी रक्षा करता है और इसी को ईश्वर-पूजा समझता है। एक धर्म वालों की देवमूर्ति सौंदर्य का आदर्श होती है और दूसरे की घोर वीभत्स एवं कुरूप। इंगलैण्ड में प्रसव के समय माता को एकांत स्थान में रहना पड़ता है, पर अफ्रीका की 'बास्क' जाति में संतान होने पर पिता को कंबलों से ढँककर अलग रखा जाता है और 'लपसी' खिलाई जाती है। अधिकांश देशों में माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करके उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट की जाती है, पर कहीं पर श्रद्धा की भावना से ही उनको कुल्हाड़े से काट दिया जाता है। अपनी माता के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के उद्देश्य से फिजी का मूल निवासी उसके मांस को

खा लेता है, जबकि एक यूरोपियन इसी उद्देश्य से उसकी एक सुंदर समाधि बनवाता है।''

विभिन्न धर्मों और मतों के धार्मिक, विश्वासों में अत्यधिक अंतर होने का यह बहुत ही अल्प विवरण है। फ्रेजर नामक विद्वान ने इस विषय पर 'गोल्डिन वो' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक सोलह बड़े-बड़े खंडों में लिखी है, पर उसमें भी पृथ्वी तल पर बसने वाले अनगिनत, जातियों, संप्रदायों में पाई जाने वाली असंख्यों धार्मिक प्रथाओं और रस्मों का पूरा वर्णन नहीं किया जा सका है। ये सिद्धांत, विश्वास और रस्में हर तरह के हैं। इनमें निरर्थक, उपहासास्पद, भयंकर, कठोर, अश्लील प्रथाएँ भी हैं और श्रेष्ठ, भक्तिपूर्ण मानवता-युक्त, विवेकयुक्त और दार्शनिकता के अनुकूल विधान भी पाए जाते हैं।

इन धार्मिक प्रथाओं ने धीरे-धीरे कैसे हानिकारक और निकम्मे अंधविश्वासों का रूप धारण कर लिया है, इस पर विचार करने से चकित हो जाना पड़ता है। डॉ० लैंग ने एक आस्ट्रेलिया के मूल निवासी से उसके किसी मृत सम्बंधी का नाम पूछा। उसने मृतक के बाप का नाम, भाई का नाम, उसकी शक्ल-सूरत, चाल-ढाल, उसके साथियों के नाम आदि सब कुछ बता दिया, पर मृतक का नाम किसी प्रकार उसकी जबान से नहीं निकल सका। इस संबंध में अन्य लोगों से, पूछने पर पता लगा कि ये लोग मृतक का नाम इसलिए नहीं लेते कि ऐसा करने से उसका भूत इनके पास चला आएगा। भारत के गाँवों में जब कोई उल्लू बोल रहा हो तो उसके सामने किसी का नाम नहीं लिया जाता; क्योंकि लोगों का भय होता है कि उस नाम को सुनकर उल्लू उसका उच्चारण करने लगेगा और इससे वह व्यक्ति बहुत शीघ्र मर जाएगा।

हमारे देश में अनेक लोग अब भी स्त्रियों के परदा त्याग करने के बहुत विरुद्ध हैं और जो लड़की विवाह-शादी के मामले में अपनी सम्मति प्रकट करती है या अपनी इच्छानुसार विवाह के लिए जोर

देती है तो उसे निर्लज्ज, कुलाँगारिणी आदि कहकर पुकारा जाता है। पर उत्तरी अफ्रीका के 'टौर्गस' प्रदेश में पुरुष बुरका डालकर रहते हैं और स्त्रियाँ खुले मुँह फिरती हैं। वहाँ पर स्त्रियाँ ही विवाह के लिए पुरुष ढूँढ़ती हैं, प्रेम प्रदर्शित करती हैं और उसे विवाह करके लाती हैं। 'बिली' नाम की जाति में कुमारी कन्याओं को मंदिर के पुजारियों को दान कर दिया जाता है, जिनका वे उपभोग करते हैं। हमारे यहाँ दक्षिण भारत के मंदिरों में 'देवदासी' की प्रथा का भी लगभग ऐसा ही रूप है। काँगों में कुमारी कन्याओं का मनुष्याकार देवमूर्ति के साथ संपर्क कराया जाता है। 'बुदा' नामक जाति के समस्त फिरके वाले गाँव की चौपाल में इकट्ठे होते हैं और उनका धर्मगुरु वहाँ चारों हाथ-पैर से चलता हुआ सियार की बोली बोलता है और अन्य सब लोग उसकी नकल करते हैं। मलाया में जिस लड़की को कोई प्यार करता है, वह उसके पदचिह्न के स्थान की धूल को उठा लाता है और उसे आग पर गरम करता है। उसका विश्वास होता है कि ऐसा करने से उसकी प्रेमिका का हृदय पिघलेगा और वह उसकी पत्नी बनने को राजी हो जाएगी। संसार के कुछ भागों में ऐसी भी प्रथाएँ हैं, जिनमें फिरके के 'भगवान' का ही बलिदान कर दिया जाता है। कुछ फिरके वाले, यदि उनकी फसल नष्ट हो जाती है तो अपने राजा तथा पुरोहित को ही मार देते हैं। इस प्रकार संसार भर में धर्म के नाम पर अनगिनत अंधविश्वास, हानिकारक और घृणित प्रथाएँ प्रचलित हैं और मानवता के उद्धार के लिए उनका मिटाया जाना आवश्यक है।

किसी मजहब या संप्रदाय में तो भगवान के पुत्र, पौत्र, पत्नी आदि की कल्पना को भी सत्य माना जाता है और दूसरी जाति (रूस, चीन आदि) में ईश्वर की गणना केवल एक 'विश्व नियम' के रूप में की जाती है। एक धर्म वाला संगीत और वाद्य को ईश प्रार्थना का आवश्यक अंग मानता है और दूसरा धर्म इसे महापाप बतलाता है। बिहार के सखी संप्रदाय के अनुयायी ईश्वर-भक्ति के

लिए स्त्री की तरह रहना, यहाँ तक कि मासिक धर्म की भी नकल करना बहुत बड़ी साधना समझते हैं। इसका उद्देश्य यह होता है कि जिस प्रकार स्त्री अपने पति से प्रेम करके उसमें तन्मय हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर में भी तन्मयता प्राप्त कर ली जाए।

इसी प्रकार देश में ऐसे तांत्रिक संप्रदाय भी पाए जाते हैं—जिनमें मद्यपान, मांस भक्षण, पशु-वध और मैथुन भी धर्म का एक अंग माना जाता है। दूसरी ओर जैन धर्म जैसे मत हैं—जिनमें ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अठारह हजार प्रकार की अश्लीलता से बचने का उपदेश दिया गया है। अगर एक संप्रदाय किसी मानव शरीरधारी को 'भगवान' मानता है (जैसे—बल्लभ संप्रदाय में) तो दूसरा संप्रदाय (जैसे—वेदांती) ईश्वर के अस्तित्व से ही इनकार करता है।

सभी मजहबों या धर्मों के भीतर इतने संप्रदाय या फिरके पाए जाते हैं कि इनको गिनना भी कठिन है। लोगों को प्रायः रहस्यवाद में बड़ा आकर्षण जान पड़ता है। इसलिए सदा नए-नए गुरु उत्पन्न होते रहते हैं, जो साधना या उपासना की एक भिन्न विधि निकालकर एक पृथक संप्रदाय स्थापित कर देते हैं, उनका एक नवीन मंदिर बन जाता है। इस प्रकार के हजारों नए-नए मत और धार्मिक फिरके जंगली कहे जाने वाले प्रदेशों में ही नहीं, वरन् यूरोप, अमेरिका, एशिया के सभ्य और सुसंस्कृत देशों में भी पाए जाते हैं। ऐसी कोई पूजापद्धति नहीं है, जिसका आविष्कार और प्रचलन संसार में कहीं-न-कहीं हो चुका हो। आप कैसी भी विचित्र अथवा असंगत उपासना पद्धति की कल्पना क्यों न करें, वह इस विस्तृत पृथ्वी पर किसी जगह अवश्य ही क्रिया रूप में होती मिल जाएगी।

हमारा आशय यह नहीं है कि संसार में विभिन्न धर्मों का होना कोई अस्वाभाविक बात है या मनुष्य की गलती है। जिस प्रकार जल, वायु और देश के भेद से मनुष्यों की भाषा और आकृति में अंतर पड़ जाता है, उसी प्रकार परिस्थितियों की भिन्नता के कारण विभिन्न जातियों की संस्कृति में भी अंतर हो सकता है।

विभिन्न धर्मों की उपासनात्मक -प्रक्रिया, विधि-विधानों में काफी भिन्नता होते हुए भी एक तथ्य प्रत्येक धर्म के मूल में काम करता है—वह है व्यक्तित्व का परिष्कार। ऐसा कोई भी धर्म नहीं, जो सदाचरण पर जोर न देता हो। यही वह शाश्वत आधार है, जिसके द्वारा मानव जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है—स्वरूप की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य की एकरूपता प्रत्येक धर्म में देखने में आती है। देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप यह भिन्नता उचित है और उपयोगी भी। धर्म का एक ही उद्देश्य है—मानवीय अंत:करण में सन्निहित श्रेष्ठता को विकसित करना। धर्म परस्पर प्रेम, दया, करुणा, सेवा, उदारता, संयम एवं सहयोग को बढ़ाता है। धर्म का वास्तविक स्वरूप वस्तुत: सदाचरण एवं कर्तव्यनिष्ठा में ही निहित है।

धर्म एक शास्त्रीय दृष्टिकोण

'सच्चिदानंद' परमपिता परमात्मा के अनेक संबोधनों में से एक संबोधन है। 'सच्चिदानंद' सत्+चित्+आनंद—इन तीन शब्दों की परस्पर संधि होने से बना है। ये तीनों शब्द परमात्मा के तीन गुणों के प्रतीक हैं। सत् उसे कहते हैं जो आदिकाल से लेकर अनंतकाल तक विद्यमान रहता है। कभी नष्ट नहीं होता। यथा हम जल को ही लें। पानी आदिकाल से लेकर आज तक उपलब्ध है और अनंतकाल तक उपलब्ध रहने की संभावना है। यद्यपि पानी का ठोस रूप बरफऔर वायु रूप भाप होता है, जो रूप-परिवर्तन का द्योतक है। इन्हीं तीन रूपों में पानी आदि से लेकर अब तक विद्यमान है। आदि से लेकर अद्यतन चली आ रही प्रवाहमान धारा को ही सनातन कहते हैं।

जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु की एक विशेषता होती है। उसका अपना स्वाभाव होता है। उसका अपना गुण होता है। वस्तु की इसी विशेषता, स्वाभाव या गुण को ही धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ—पानी का गुण या स्वभाव शीतलता प्रदान करना या सृष्टि के प्राणिमात्र

की प्यास बुझाना है। इसी प्रकार अग्नि का गुण ताप और प्रकाश प्रदान करना है। सरिता का स्वभाव सतत प्रवाहित रहना है। पक्षियों का स्वभाव सतत चहकते, फुदकते, उड़ते हुए आनंदित होते रहना है। पशुओं का भी स्वभाव चौकड़ी भरते हुए मस्ती भरे जीवन का आनंद उठाना है। केवल मनुष्य के संपर्क में आने वाले पशु-पक्षी जो मनुष्य की अधीनता का जीवन जीते हैं, उन्हें पराधीनता के कारण आनंदमय जीवन से वंचित रह जाना पड़ता है और दुखी जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य का एकमात्र धर्म 'आनंद' ही है। वह सदा आनंद प्राप्ति की दिशा में ही उन्मुख रहता है। यह बात दूसरी है कि परिस्थितियों की पराधीनता के कारण उसे आनंद रहित जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है, परंतु सतत उसकी चिंतन की धारा दुःख से त्राण पाकर आनंद प्राप्ति की ओर ही प्रवाहित रहती है। मनुष्य समाज के तत्त्वान्वेषी ऋषि, मुनि, संत, महात्मा, विचारक, चिंतक आदि जितने भी महापुरुष हो गए है तथा जिन्होंने धर्मशास्त्रों का प्रणयन किया है, उन सभी ने एक स्वर से दुःख से त्राण पाने का उपाय और सुख प्राप्ति का मार्ग धर्म को ही बताया है। सुख प्राप्ति के मार्ग को ही 'धर्म' कहा गया है। व्यक्तिगत सुख के मार्ग को 'व्यक्ति का धर्म, परिवार को सुखी बनाने वाले मार्ग को 'कुटुंब धर्म', और जिससे समाज को सुख मिले 'सामाजिक धर्म', जिससे राष्ट्र खुशहाल हो, उसे 'राष्ट्र धर्म', जिससे विश्व सुखी हो, उसे 'सार्वभौम धर्म' और जिससे प्राणिमात्र सुख की अनुभूति करें, ऐसे धर्म को 'सनातन धर्म' कहा गया है।

यों तो 'धर्म' संस्कृत भाषा का एक शब्द है, जिसकी शाब्दिक उत्पत्ति 'धृञ्'—'धारणे' धातु से हुई है। महर्षि व्यास जी ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(महा. कर्णपर्व ६९.५८)

अर्थ —धारण करने से इसका नाम धर्म है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है। वह निश्चय ही धर्म है। महामुनि कणाद ने कहा है—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

—वैशेषिक दर्शन (१.१.२)

अर्थ — जिससे इस लोक और परलोक दोनों स्थानों पर सुख मिले, वही धर्म है।

आधार उसे कहते हैं, जिसके सहारे कुछ स्थिर रह सके, कुछ टिक सके। हम चारों ओर जो गगनचुंबी इमारत देखते हैं, उनके आधार पर नींव के पत्थर होते हैं। इसी पर वे स्थिर हैं। इसी पर वे टिके हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी आधार पर ही अवस्थित हैं। यहाँ तक कि ग्रह, नक्षत्र, तारे, जो अंतरिक्ष में, शून्य में अवस्थित प्रतीत होते हैं, वे भी एकदूसरे की आकर्षण शक्ति को आधार बनाए हुए हैं। आधार रहित कुछ भी नहीं है। बिना आधार के सनातन धर्म भी नहीं है। सनातन धर्म का अपना एक मजबूत आधार है, जिसके ऊपर उसकी भित्ति हजारों वर्षों से मजबूती से खड़ी हुई है।

वह आधार क्या है ? वह आधार है—**'सर्वभूत हितेरताः।'**

इसे दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि सृष्टि के संपूर्ण जड़-चेतन में अपनी आत्मा का दर्शन करना। अपने समान ही सबको मानना। जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

—यजुर्वेद ४०/६

इसी बात को एक अन्य ऋषि ने इस प्रकार कहा है—

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

अर्थ— जो कार्य अपने विरुद्ध जँचता हो, दुःखद मालूम होता हो, उसे दूसरों के साथ भी मत करो—संक्षेप में यही धर्म है।

श्रीमद्भागवतकार ने भी ईश्वर की प्रसन्नता के लिए कहा है कि हृदय में सब भूतों के प्रति दया होना तथा यदृच्छ लाभ से संतुष्ट रहना है।

दयया सर्वभूतेषु, संतुष्ट्या येन केन वा।

भगवान कृष्ण कहते हैं—

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैर्विषयोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।

अर्थ— जो दूसरे प्राणियों को कष्ट देता है, वह सब प्रकार की सामग्रियों से विधिपूर्वक मेरा अत्यंत पूजन-भजन भी करे, तो भी मैं उन पर संतुष्ट नहीं होता।

मनुस्मृति में मनु महाराज ने कहा है—

धर्मं शनैः निश्चनुयाद् बल्मीकमि व पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥

(मनु०४.२३८)

अर्थ— जैसे दीमक बाँबी को बनाती है वैसे सब प्राणियों को न देकर परलोक के लिए धर्म संग्रह करें।

महर्षि व्यास ने कहा है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥

अर्थ— धर्म का सार सुनो। सुनो और धारण करो। अपने को जो अच्छा न लगे, वह दूसरों के साथ व्यवहार न करो।

'सर्वभूत दया' ही हमारे सनातन धर्म का आधार है। सब प्राणियों को आत्मवत् मानना ही धर्म का उच्चतम आदर्श है, आधार है। इन्हीं सब कारणों से ही हमारे यहाँ धर्मपालन का निर्देश पग-पग पर दिया गया है, जिससे हम अपने आधार को, अपने आदर्श को कभी भी न भूल सकें। जैसा कि कहा गया है कि—

नापुत्र सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः।।

अर्थ— परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री और न संबंधी सहायक होते हैं। केवल धर्म ही सहायक होता है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितयौवने।
चला चलति संसारे, धर्म एकोहि निश्चलः॥

अर्थ— लक्ष्मी चलायमान है और जीवन भी चलायमान है। इस चराचर जगत में केवल धर्म ही अचल है। सनातन धर्म कोई मजहब या संप्रदाय नहीं है,जो परस्पर शत्रुता के बीज बो देवे। इस धर्म का आधार अत्यंत मजबूत हैं, जो हमें '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का पाठ पढ़ाता है। यही वह धर्म है, जो **वसुधैव-कुटुंबकम्** की ऊँची शिक्षा देता है। यही वह धर्म है जो आत्मानंद और परमानंद की प्राप्ति कराता है। यही वह धर्म है, जो विश्वजनीन है। इसी धर्म से विश्वमानव कल्याण को प्राप्त होगा। धर्म का यह एक पक्ष हुआ। दूसरा पक्ष है—अवांछनीयताओं, अनाचार, असुरता को निरस्त करना।

असुरता को निरस्त करना और देवत्व का अभिवर्द्धन, यह उभयपक्षीय कर्तव्य कर्म प्रत्येक मनुष्य को निभाने होते हैं। आहार का ग्रहण और मल का विसर्जन दोनों ही क्रियाकलाप जीवनयापन के अविच्छिन्न अंग हैं। भगवान को उद्देश्य लेकर अवतरित होना पड़ता है—(१) धर्म की स्थापना (२) अधर्म का विनाश। दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। माली को पौधों में खाद-पानी लगाना पड़ता है, साथ ही बेढंगी टहनियों की काँट-छाँट तथा समीपवर्ती खर-पतवार उखाड़ने पर भी सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना पड़ता है। आत्मोन्नति के लिए जहाँ स्वाध्याय, सत्संग, धर्मानुष्ठान आदि करने पड़ते है, वहाँ कुसंस्कारों और दुष्प्रवृतियों के निराकरण के लिए आत्मशोधन की प्रताड़ना-तपश्चर्या भी अपनानी होती है। प्रगति और परिष्कार के लिए सृजन और उन्मूलन की उभयपक्षीय प्रक्रिया अपनानी होती है। धर्माचरण की तरह ही अधर्म के प्रति प्रचंड आक्रोश प्रकट करने पर ही समग्र धर्म की रक्षा हो सकती है। अनीति

के प्रति आक्रोश जाग्रत रखने को शास्त्रों में 'मन्यु' कहा गया है और उस प्रखरता को धर्म का अविच्छिन्न अंग माना गया है। अतिवादी, उदार पक्षी, एकांगी धार्मिकता का ही दुष्परिणाम था। जो हजार वर्ष की लंबी राजनैतिक गुलामी के रूप में अपने देश को अभिशाप की तरह भुगतना पड़ा।

सज्जनता का परिपोषण जितना आवश्यक है, उतना ही दुष्टता का उन्मूलन भी परम पवित्र मानवीय कर्तव्य है। यदि यह सनातन सत्य ठीक तरह समझा जा सके तो प्राचीन काल की तरह आज भी हर व्यक्ति न्याय के औचित्य का पोषण और अन्याय के अनौचित्य का निराकरण कर सकता है। शास्त्र कहता है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाऽग्निना॥

—यजुर्वेद २०/२५

हे ब्राह्मण! तुम अपने विचार उच्च रखना, पर साथ-साथ अपने क्षत्रियत्व को भी जाग्रत किए रखना। विज्ञानी व्यक्ति ही अपनी अग्नि (तेजस्विता) को बनाए रखते हैं। वे ही यज्ञ के ज्ञाता और अधिकारी हैं।

जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ-साथ रहती है, जहाँ पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान कायम रहता है, वही देश पुण्य रहता है।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्मवर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥

—मनु स्मृति ९/३२२

न बिना ब्रह्मशक्ति के क्षात्रशक्ति बढ़ सकती है और न बिना क्षात्रशक्ति के ब्रह्मशक्ति बढ़ सकती है, प्रत्युत दोनों के मेल से ही लोक-परलोक की उन्नति होती है।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो

रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्योः यमो मृत्युरीशान इति।

—बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/११

सृष्टि के पूर्व जगत के स्वरूप में व्यक्त होने के पहले केवल एक ब्रह्म ही था। उस समय एक था, परंतु ब्राह्मण जात्याभिमानी एक ब्रह्म सें सृष्टि, स्थिति आदि विश्व से समस्त कार्यों का निर्वाह नहीं हो सकता। एक ब्रह्म सृष्टि, स्थिति आदि निखिल जगत कार्यों को संपादन करने में पर्याप्त समर्थ नहीं है। इसी कारण कर्म करने की इच्छा से परमात्मा प्रशस्त रूप में क्षत्रिय भाव से युक्त हुए। इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान रूप में व्यक्त हुए। इंद्राणि देवगण क्षत्रिय जाति के देवता हैं।

ब्राह्मणैः क्षत्रवंधुर्हि द्वारपालो नियोजितः।

—भागवत

ब्राह्मण कर्म वालों ने क्षत्रिय कर्म वाले भाइयों को समाज का चौकीदार नियुक्त किया।

शम प्रधानेषु तपोधनेषु,
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

—कालिदास

शम प्रधान तपस्वियों में—शत्रुओं को जलाने वाला तेज छिपा हुआ है।''

वीरता ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। ब्राह्मण उसकी साहसिकता का परिचय सत्प्रवृतियों के संवर्द्धन में तन्मय रहकर देता है। क्षत्रिय अपनी शूरता को दुष्टता से जूझने में लगाता है। दोनों का कार्य समान रूप से आवश्यक है। अस्तु, दोनों को ही श्रेयाधिकारी कहा गया है।

वेदाध्ययन शूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः
गुरु शुश्रूषया शूरा मातृपितृपरायणाः
आरण्यगृहवासे च शूरा कर्तव्यपालने।

जो वेदाध्ययन में, अध्यापन में, गुरुसेवा में, माता-पिता की सेवा में, कर्तव्यपरायणता में शूर है, वह चाहे वनवासी बने अथवा घर में रहे, समान रूप से प्रशंसनीय है।

प्राचीनकाल में युद्ध धर्मयुद्ध के रूप में ही होते थे। नीति और न्याय की रक्षा के लिए असुरता के विरुद्ध लोहा लिया जाता था। अनीतिपूर्वक स्वार्थसिद्धि करने के लिए आक्रमण करने की देव परंपरा कभी रही ही नहीं। जब भी लड़ना पड़ता तब दुष्टता को निरस्त करना उनका लक्ष्य रहा। अस्तु, भारतीय युद्धों का इतिहास 'धर्मयुद्ध' के रूप में ही देखा जा सकता है। जिस प्रकार ब्राह्मण तपश्चर्या और लोकसेवा में अपने को तिल-तिल गलाते घुलाते थे। उसी प्रकार क्षत्रिय भी असुरता से जूझने में अपने प्राणों की परवाह न करते थे और जान हथेली पर रखकर अन्याय से जुझते और उसे मिटाकर ही चैन लेते थे। क्षत्रिय धर्म और उसके धर्मयुद्ध की शास्त्रों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कायरतावश उससे जी चुराने वालों को निंदनीय ठहराया है।

वेद में भी बताया गया है—

ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

—अ० वे० १८/२/१७

जो संग्रामों में लड़ने वाले हैं, जो शूरवीरता से शरीर को त्यागने वाले हैं और जिन्होंने सहस्रों दक्षिणाएँ दी हैं। तू उनको भी प्राप्त हो।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

—गीता २/३१

स्व धर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गदारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम्॥

—गीता २/३२

हे पार्थ! यों अपने आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है।

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः।
संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः॥
स्वर्गमाबिशते ज्ञात्वा योधस्य गतिनिश्चयम्॥

—महाभारत

जो अपने प्राणों की चिंता छोड़कर पतंगे की भाँति निर्भय हो हाथ में हथियार उठाए अग्नि के समान विनाशकारी संग्राम में प्रवेश कर जाता है और योद्धा को मिलने वाली निश्चित गति को जानकर उत्साह पूर्वक जूझता है, वह स्वर्गलोक में जाता है।

सलिलादुत्थितोवह्निर्येनव्याप्तंचराचरम्।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम्॥

—महाभारत

पानी से आग पैदा हुई जो सारे जगत को व्याप्त कर रही है। दधीच की हड्डी से सारे दानवों का नाशक वज्र बनाया गया।

भगवान के सभी अवतार धर्म स्थापना और अधर्म का नाश करने के लिए हुए। दुर्गा का अवतार तो विशेषतः असुरता से जूझने के लिए ही हुआ।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्थानं भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यारिसंक्षयम्॥

—सप्तशती

जब-जब दानव प्रकृति वाले जोर पकड़कर सृष्टिकार्य में, सामाजिक प्रगति में रोड़ा अटकाएँगे, तभी मैं प्रकट होकर उनका नाश करूँगी।

भारतीय धर्म और संस्कृति की जननी गायत्री है। उसे ब्रह्मवर्चस् भी कहते हैं। उसमें ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मतेज दोनों का समावेश है। उन दोनों ही तत्त्वों की उपासना करने वाला ब्रह्मतेज संपन्न हो जाता है। इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है—

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री।
गायत्र्या तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति॥

—शतपथ

"गायत्री ही तेज और ब्रह्मवर्चस् स्वरूप है। उसका सदैव अनुष्ठान करने से तेजस्वी और ब्रह्म वर्चस्वी बनता है।"

सत्प्रवृतियों का प्रसार एवं प्रतिस्थापना एवं दुष्प्रवृतियों का निष्कासन-विनाश ही धर्म का मूलोद्देश्य है। इस तथ्य को जो समाज जितना हृदयंगम कर तदनुरूप जीवनशैली में इनका समावेश करेगा, वह उतना ही सशक्त, समुन्नत एवं शालीन बनेगा। यदि वह इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होता तो उसे भी विज्ञान की टेढ़ी आँख का कोपभाजन बनने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। आधार-विहीन धर्म थोड़ी देर ठहर सकता है। विज्ञान की कठोर तर्कशक्ति के आगे उसका यथार्थस्वरूप ही टिक पाएगा।

धर्म ऐसे महान तथ्य और जीवन-चेतना का यथार्थ विज्ञान है, उसके बाह्याभ्यांतर दोनों ही स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी होते हैं। ऐसी महान सत्ता को दिमागी बहस नहीं, अपितु, श्रद्धा के रूप में देखा-परखा और धारण किया जाना चाहिए।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा